अनुभव सरिता

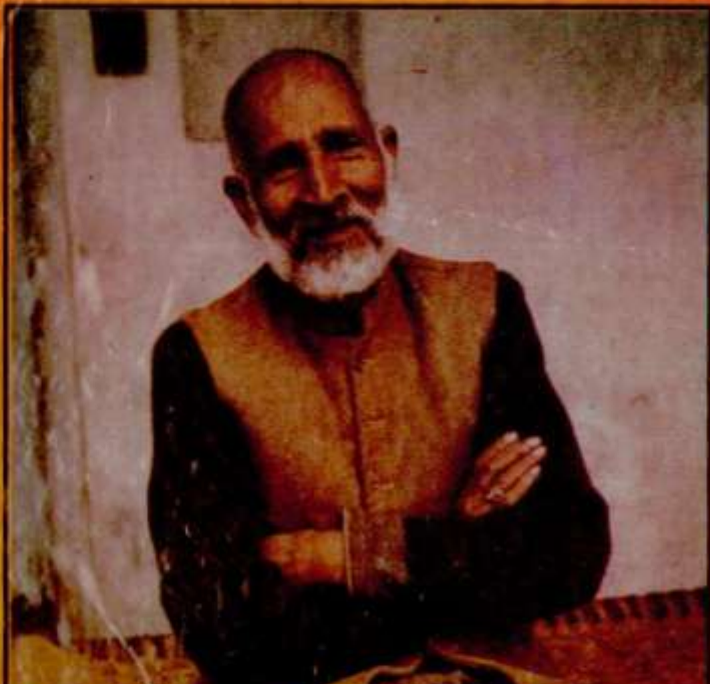

कस्तूरी बहिन

प्रकाशक : श्री जी.डी. चतुर्वेदी
सी.-830-ए, महानगर,
एच. रोड.लखनऊ

प्रथम संस्करण : सितम्बर, 1999
500 प्रतियाँ

© सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य : **Rs. 80/-**

मुद्रक : एन्टेक्स प्रिंटर्स
10-ए, बटलर रोड,
डालीबाग, लखनऊ।
फोन: 207920, 208624
फैक्स: (0522) 207920

अनुभव सरिता

कस्तूरी बहिन

विषय-सूची

क्र.सं.		पृष्ठ सं.
1.	अपनी बात	(i)
2.	दो शब्द	(iii)
3.	सहज मार्ग के अन्तर्गत ब्रह्म-विद्या में प्रेम और भक्ति	01
4.	तीन प्रश्न (कहानी)	06
5.	तुम्हें क्या दूँ भगवान (कहानी)	12
6.	चाह	18
7.	साधन-पथ	24
8.	प्रीति की रीति (कहानी)	31
9.	अमर ज्योति (कहानी)	36
10.	जिन खोजा तिन पाइयाँ	40
11.	भावना	46
12.	पथिक (कहानी)	52
13.	परदेशी (कहानी)	59
14.	मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै	64
15.	अपनी कमज़ोरी	69
16.	हम पै बन जाये कुछ ऐसी कि बिन आये न बने	73
17.	सुबह का भूला शाम को आ जाये तो	78
18.	प्रिसेप्टर	83
19.	सुख तो है लेकिन चैन नहीं	91
20.	उन्हें कैसे अपना बनायें	96
21.	विश्व-शान्ति के प्रति सहज-मार्ग का योगदान	100
22.	तब और अब (कहानी)	109
23.	सहज-मार्ग जैसा मैंने देखा	114

क्र.सं.		पृष्ठ सं.
24.	जोगी! मत जा, मत जा रे! (कहानी)	119
25.	सहज-मार्ग में अभ्यासी	125
26.	अन्धेर नगरी (कहानी)	130
27.	राम मिलन के काज सखी मोहे आरति उर में जागी री	135
28.	अपनी राह (कहानी)	143
29.	हीर-कण	146
30.	नेह का सौदा (कहानी)	148
31.	अहं क़ी पूजा	154
32.	मिट्टी का घरौंदा (कहानी)	159
33.	आत्म-समर्पण	162
34.	हम	166
35.	सहज-मार्ग योग के चमत्कार	167
36.	अपने घर की ओर	170
37.	साधक के सृजन-कण	173
38.	सहज-मार्ग में रज-कण	175
39.	साधना	177
40.	मालिक की निगाह	179
41.	दिव्य-आह्वान	182
42.	हमारी बारी आ गई है	184
43.	ध्यान	189
44.	एलर्टनेस (सजगता)	192

*

अपनी - बात

'श्री रामचन्द्र मिशन' शाहजहाँपुर, यू.पी. की स्थापना 31 मार्च सन् 1945 को हुई और सन् 1958 से 'सहज-मार्ग' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। पत्रिका 'सहज-मार्ग' पद्धति द्वारा आध्यात्म का प्रचार एवं प्रसारण, अनुभव सम्बन्धी रचनाओं का समावेश लिए हुये थी। पत्रिका में प्रकाशित आदि गुरु श्री लालाजी साहब एवं हमारे श्री बाबूजी महाराज की रचनायें बहुमूल्य हैं। रचनाओं में सहज-मार्ग पद्धति द्वारा लक्ष्य-प्राप्ति का सही मार्ग-दर्शन एवं अभ्यासियों को आध्यात्मिक उन्नति करने में, आये दिन आई रोजमर्रा की बाधाओं को दूर करने के उपायों का उल्लेख है। श्री बाबूजी महाराज ने अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा पावन-प्राणाहुति शक्ति का अभ्यासियों के हृदय में प्रवाह देकर उन्हें ऊँचा उठाने का अनुपम संकल्प लिया है। कस्तूरी बहिन की रचनाओं ने अपने अनुभवों से अपने श्री बाबूजी महाराज की सहज-मार्ग साधना की श्रेष्ठता को उज्ज्वल कर दिया है जिससे अभ्यासी हमेशा लाभान्वित होते रहेंगे। मेरा स्वयं का अनुभव है कि कुछ बातें, जो मैं वर्षों तक नहीं समझ पाया था, इन रचनाओं के पढ़ने से मेरे लिये समझ पाना सहज हो गया।

रचनाओं में कहे गये अनेकों तथ्य शायद किसी पुस्तक में उपलब्ध नहीं हैं। समय के अन्तराल के साथ-साथ पूर्व की 'सहज-मार्ग' पत्रिका की प्रतियाँ भी प्राय: लुप्त सी होती जा रही हैं, क्योंकि इन पत्रिकाओं को वर्षों तक सहेज कर सुरक्षित रख पाना कठिन है।

यह शायद 'मालिक' की कृपा का ही प्रभाव है कि मेरे मन में यह विचार आया कि इन विशिष्ट रचनाओं को संकलित कर एक पुस्तक का रूप दे दिया जाये, ताकि आने वाली पीढ़ियों को इन रचनाओं का दैविक लाभ मिल सके और सहज-मार्ग पद्धति द्वारा उन्हें दैविक लक्ष्य प्राप्ति सुलभ हो सके। कस्तूरी बहिन के लेखों में दैविक अनुभूतियों का वर्णन

उनके लेखों में चार चाँद लगा देता है। इस कार्य हेतु सहज-मार्ग पत्रिकाओं के संकलन में अथक प्रयास करने पर भी पत्रिका के सभी अंक उपलब्ध नहीं हो सके। यदि इस कार्य में और अधिक विलम्ब हो जाता, तो इतना भी संकलित करना शायद सम्भव नहीं हो पाता।

श्रद्धेयी बहिन कस्तूरी की संकलित रचनाओं के संग्रह रूप को ''अनुभव-सरिता'' नाम देना ही मैंने उचित समझा है। उस सरिता में से ही लघु लहरों की भाँति कुछ लेख व कहानियों को उनकी इस ''अनुभव-सरिता'' नामक पुस्तक में दिया जा रहा है।

यदि 'मालिक' की कृपा हुई तो भविष्य में ऐसी पुस्तकों का और प्रकाशन भी सम्भव हो सकेगा। विश्वास है कि 'मालिक' की कृपा से संकलित की गई उन्हीं की रचनाओं से अभ्यासी भाई-बहिनें लाभान्वित हो सकेंगे।

धन्यवाद!

1 सितम्बर 1999

एस.एम. प्रसाद
अभ्यासी
लखनऊ केन्द्र

" दो शब्द "

भला बतायें कि दो शब्द मैं किसके लिये लिखूँ क्योंकि पुस्तक का लेखन शब्दों से परे है। यह तो अनुभव-सरिता है, जिसका आदि एवं अन्त, मेरे श्री बाबूजी महाराज का अनन्त-वरदान है। समस्त के आत्मिक-कल्याण हेतु इस दैविक "अनुभव-सरिता" पुस्तक को समस्त के आध्यात्मिक-कल्याण हेतु उभार लाने के लिये श्रीबाबूजी ने दैविक-प्रसाद के रूप में हमारे प्रिय भाई एस.एम. प्रसाद यानि सहज-मार्ग का प्रसाद हमें प्रदान किया है। उनके अथक-परिश्रम द्वारा ही आज मैं अपने बाबूजी की दिव्य-इच्छा को पूर्ण कर पाने में सफलता के पथ पर बराबर अग्रसर होती जा रही हूँ।

"मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे पत्र व मेरे उत्तर, तुम्हारे लेख एवं आध्यात्मिक-दशाओं से सजी कहानियाँ सभी प्रकाशित हों। मैं चाहता हूँ कि मेरी दैविक Research, जो मैंने तुम पर पूर्णरीत्या पूर्ण की है, का पूर्ण विवरण एवं मेरे कथनों को तुम प्रेक्टिकल-दशाओं के रूप में लिखो और सब प्रकाशित हों।" उनकी इस दैविक-इच्छा को पूर्ण कर पाने में सर्वप्रथम भाई प्रसादजी का ही नाम उज्ज्वल रहेगा-पश्चात् मैं एवं अन्य सम्मिलित रहेंगे।

कस्तूरी बहिन

सहज मार्ग के अन्तर्गत ब्रह्म-विद्या में प्रेम और भक्ति

प्रेम और भक्ति मानव-जीवन का सार है। जहाँ तक मेरा अनुभव है, उस सार का अर्थ है 'जीवन में मृत्यु और मृत्यु में जीवन'। यद्यपि एक दिन ऐसा आता अवश्य है जबकि मृत्यु की भी मृत्यु हो जाती है। मृत्यु के पश्चात् तो प्रत्येक को चिता मिलती ही है, परन्तु ईश्वर-प्रेम में बेसुध प्रेमी व भक्त उस जलती हुई प्रेमाग्नि रूपी चिता का प्रथम ही आलिंगन करते हैं। परिणाम स्वरूप उनकी कान्ति, तपाये हुए स्वर्ण के सदृश उत्तरोत्तर बढ़ती और पावन होती चली जाती है। इस कान्ति से मेरा आशय स्थूल कान्ति से कदापि नहीं है, वरन् उनका अंतर, रोम रोम एवं कण-कण ईश्वरीय ज्योति से जगमगा उठता है। उनके निकट के वातावरण में उनकी अपनी ही सुगन्ध व्याप्त रहती है। उनके मन, विचार एवं इन्द्रियों की सांसारिक विषयाग्नि का उस चिता पर हवन हो जाता है और ढलते-ढलते वह एक सुदृढ़ संत के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। मैंने देखा है कि जिज्ञासुओं का तो अन्त नहीं है, किन्तु 'दीपक' पर शलभ की भाँति न्यौछावर होने का साहस रखने वाले बहुत कम होते हैं और ब्रह्म-विद्या का वास्तविक स्वरूप एवं अर्थ यही है।

वैसे तो ब्रह्म-विद्या सबसे बड़ा विज्ञान है तथा सबसे गम्भीर विद्या है, इसमें कोई चाहे जितने मोती चुगता जावे। प्राचीन काल में हमारे पूर्वज ऋषि मुनियों ने इसी के द्वारा ईश्वर का ज्ञान प्राप्त किया था। उस समय दृष्टि सूक्ष्म होती थी, क्योंकि सत् का आधिक्य था और सत् था तो चित्त व आनन्द भी उन्हें प्राप्त थे, इस कारण उनकी दृष्टि स्वाभाविक ही सत्य पथ की ओर जाती थी। ज्यों-ज्यों हम सत्य से दूर होते गये, दृष्टि भी स्थूल पड़ती गई, यहाँ तक कि ब्रह्म-विद्या, जो सत्य विद्या थी, उसे भूलकर नवीन तारों का जाल बुनकर उसे और ढाँकते गये। भक्ति तमाम शाखाओं में बँट गई और हमारी दशा वैसी हो गई कि एक ही जल हजार फुहारों में होकर बहने लगा। खैर, "होनी थी, सो बीत गई, आगे की सुधि लेय।" आज इस विद्या को नवीन रीति से सँवारकर, सहज मार्ग में ढाल कर साधक की साधना को शीघ्र ही सफल बनाने का श्रेय समर्थ सद्गुरू श्री रामचन्द्रजी महाराज (बाबूजी) (शाहजहाँपुर यू.पी.) को ही है।

'सहज' शब्द एक अविगत गति का द्योतक है। जब हमारे विचार में 'सहज' शब्द आता है, तो स्वभावतः एक क्षण को ही हमारी विचार-शक्ति द्वारा मन एक ऐसी सरल एवं नम्र अवस्था से सम्बन्धित हो जाता है, जिसकी गति वाणी के परे है। वास्तव में मानव-मात्र की सत्ता वही सहज, साम्य अवस्था है, जिसका एक क्षण को ही सही, कभी न कभी अनजाने ही हमें आभास मिल जाता है। किन्तु सत्गुरु की कृपा से आत्मोन्नति करते-करते उस अवस्था से सम्बन्धित रहते हुए वह हमारी रहनी का स्थान ही बन जाता है, तब सद्गुरु श्री बाबूजी अपनी पावन प्राण-शक्ति द्वारा साधक के मन व सुरत का सम्बन्ध उस सहज-गति से भी परे खींच देते हैं। तब हमारी विचार-धारा एक नवीन वातावरण में पैरने लगती है, अथवा यों कहिये कि तब साधक के पग ब्रह्म अवस्था के क्षेत्र में बढ़ने लगते हैं। वास्तविक ब्रह्म विद्या का ज्ञान भी हमें तभी से प्राप्त होना प्रारम्भ होता है, जबकि उस क्षेत्र में हम पग रख देते हैं। साधक का अपना परिश्रम बिना बाबूजी की पावन प्राण शक्ति का सहारा पाये सफल नहीं हो पाता है, इसीलिये कहा है कि- ''बिन गुरू भवनिधि तरहि न कोई।''

अब लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि आखिर हम यहाँ तक पहुँचें कैसे और यहाँ तक पहुँचते न पहुँचते किन-किन अमूल्य आत्मिक गतियों के आनन्द में हमारी लय-अवस्था होती चलती है। इस विषय में मेरे परम पूज्य श्री बाबूजी की सहज मार्ग साधना द्वारा मैंने यही देखा है कि निष्ठा जब सीमा तक पहुँच जाती है तो भक्ति में परिणत हो जाती है। सम्भव है कि इसका भाव यों और स्पष्ट हो सके जैसे कबीर जी के शब्दों में यों कह लीजिए कि-

'सद्गुरु लई कमान कर, बाँहण लागा तीर।
एक जू छूटा प्रीति सों, बेध्यो सकल शरीर॥''

किन्तु भाई, मैं तो केवल इतना कहना ही पर्याप्त समझती हूँ कि 'यदि मस्तिष्क प्रेम है, तो हृदय भक्ति है।' अब जरा मतवाली मीरा जी के शब्दों में हम इसका रसास्वादन कर लें, उनकी सुमधुर वाणी में हम इन दशाओं का रसपान तो कर लें। प्रेम में बेसुध मीरा कह उठती है- ''राणा मैं तो गिरधर के घर जाऊँ।'' उनका एक-एक शब्द रस से सराबोर है। उनकी निष्ठा ने इस दूसरे पद में कितना यथार्थ रूप ले लिया है कि:-

''तेरा कोई नहिं रोकन हार, मगन होय मीरा चली।''

चलने वाले को भी क्या आज तक कोई रोक सका है, फिर मगन होकर चलने वाले को? रंचक और प्रवेश करें और देखें कि उनकी वह सुदृढ़ निष्ठा आगे चलकर भक्ति रूपी अनमोल रत्न बन गई। जब वे कहती हैं कि:-

''मेरी उनकी प्रीति पुरानी, उन बिन पल न रहाऊँ।''

इस स्थल पर आकर उनकी वीणा के तार भी मौन हो जाते हैं और शब्दों में भक्ति की ध्वनि के साथ वे भी शब्द बन जाते हैं। दृष्टि आगे उठती है तो क्या दशा दिखाई देती है कि अब भक्ति की झंकार भी लय होने लगी है। उनके इस पद ने तो मानों लय-अवस्था को सजीवता ही प्रदान कर दी है कि:-

''जहाँ बैठारे, तित ही बैठूं, बेचे तो बिक जाऊँ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, बार बार बलि जाऊँ॥''

सहज मार्ग में ब्रह्म-विद्या में प्रेम और भक्ति का ऐसा ही सुन्दर समन्वय है। भक्ति की प्रगाढ़ अवस्था व अपने इष्ट के ध्यान में लय रहते-रहते साधक की भक्ति भी लय-अवस्था में परिणत हो जाती है। सम्भव है इसी कारण ब्रह्म-विद्या को सब विद्याओं से श्रेष्ठ माना गया है। जहाँ तक मेरा अनुभव है यह बात स्वत: सिद्ध भी है क्योंकि यदि साधक एक सच्चे ब्रह्म स्थित योगेश्वर की शरण है, तो निश्चय है कि एक दिन वह अवश्य आयेगा कि साधक किसी शाह से कम न होगा। परन्तु शाह भी श्री बाबूजी जैसा कि जिसे अपनी शाही का गुमान तक नहीं, जिसे अपने राजस्व का होश नहीं और जिसे अपना कोष लुटाने या खाली होने का भय नहीं, क्योंकि भाई, चाँदी के टुकड़ों और सरकारी मोहर से छपे कागज़ों को लूटने वालों की तो गिनती नहीं, किन्तु एक ब्रह्म-योगी के गुह्य-कोष को लूटने का निश्चय करने वाला कोई बिरला ही पैदा होता है।

मैंने श्री रामचन्द्र मिशन के संस्थापक श्री बाबूजी को बहुधा यह कहते सुना है और उन्होंने मुझे लिखा भी था कि- ''बिटिया! Negation के कमाल की हालत पर जब अभ्यासी पहुँचे तो सच पूछो मुझे आनन्द इसके बाद की तालीम में इतना आवेगा कि मेरे पास वह शब्द नहीं कि मैं बयान कर सकूँ और आनन्द भी क्या? बस यही कि कोई व्यक्ति ऐसा मिला तो कि अपने लालाजी महाराज की रक्खी अमानत को लेने वाला हुआ। यह है भूमा में लय योगी की भावना और सहज मार्ग में साधक की प्रेम पराकाष्ठा।

किन्तु जब हम ऐसे सद्‌गुरु की शरण में हैं जिसमें अपने बालक या शिष्य की

मन:स्थिति पढ़कर उसे Transmission प्राणाहुति शक्ति द्वारा संभालने की पूर्ण सामर्थ्य है तो फिर देखिये कि ईश्वर अपने ख़जाने में से हमको क्या क्या न देगा। वह दोनों हाथों से अपना खज़ाना लुटा देता है और उपरोक्त दिव्य-दशा रूपी मणि-मुक्तायें हमको प्रदान कर देता है फिर क्या होगा? आप होंगे शाह और वह होगा फ़कीर। मुझे याद है कि एक बार यह लिखने पर कि कुछ आजकल ऐसी बादशाही दशा चल रही है कि- ''ऐसा लगता है कि सूरज और चन्द्रमा मैंने ही बनाये हैं। ऐसा लगता है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरे ही दिल में समाया हुआ है।'' इस पर श्री बाबूजी ने लिखा था कि- ''भाई, यह सब ईश्वरीय-दशा है। यह साधक को उसके (ईश्वर के) वरदान की दैविक दशा है।

जिसप्रकार पक्षी को उड़ने के लिये तीन वस्तुओं की आवश्यकता होती है प्रथम तो उड़ने का ज्ञान, दूसरा पंख और तीसरा Balance बराबर रखने के लिए पूँछ। उड़ने का ज्ञान उसे कहाँ से मिलता है? माँ से। पंख और पूँछ ईश्वर की कृपा से। इसी प्रकार हमें अभ्यास में भी तीन वस्तुओं की अत्यन्त आवश्यकता होती है। प्रथम तो ज्ञान, जो हमको सहज-मार्ग साधना द्वारा मिलता है। फिर हमारे पास एक पंख तो प्रेम और दूसरा भक्ति का हो। तीसरे Balance सम रखने के लिये चाहिये हमारे बाबूजी की निगाह, तब साम्यावस्था प्राप्त होती है जिससे हम ब्रह्म-विद्या के विस्तृत क्षेत्र में स्वच्छन्द विचरण कर सकते हैं।

आज हम जाग उठें। कैसे उठें? जैसे भेरी का शब्द सुनकर वीर जाग उठते हैं। उठें, जैसे निषंग की टंकार सुनकर मृग चौंक उठते हैं। उठें, जैसे पूर्णचन्द्र को देखकर समुद्र की लहरों में ज्वार-भाटा उठने लगता है। व्यर्थ के अभिमान में टिड्डी की तरह पैर ऊपर कर सोने से हम आत्मोन्नति में भला कैसे सफल हो सकते हैं? म्रियमाणवत होकर रहना सभी जानते हैं किन्तु अमृत पान कर मृत्यु (जीवन मुक्ति की दशा) पाना किन्हीं बिरले को ही प्राप्त होता है। कबीर दास जी ने कितना सुन्दर लिखा है कि:-

''मै तोहे बूझौ हे सखी, जीवत क्यों न मराय।
मूए पीछे सत करै, जीवत क्यों न कराय॥''

प्रेम के महत्त्व का एक छोटा सा दृष्टान्त देकर मैं अब लेख को समाप्त करती हूँ। अकबर इलाहाबादी के पास एक सुशिक्षित सज्जन अपनी कविता संशोधन के लिए आये। अकबर साहब ने उसमें से एक कविता पढ़ी और पूछा- ''हज़रत, आपने कभी किसी से मोहब्बत की है?''

"तौबाह! " उन्होंने कहा- "इन फ़ज़ीलतों से मैं बराबर दूर रहा हूँ।" "कभी किसी बेबस गरीब को देखकर आपका दिल भर आया है?" "अल्लाह का शुक्र है, मेरे मिलने वाले व दोस्त तंगदस्त नहीं हैं।" "किसी की याद में आप बेचैन होकर कभी रोये भी नहीं?" "कभी नहीं।"

अकबर साहब ने उनकी कवितायें वापिस करते हुए यह शेर पढ़ाः-

"इश्क (प्रेम) को दिल में दे जगह अकबर,
इल्म से शायरी आती नहीं।"

और कबीर जी ने कितना सुन्दर कहा है-

"प्रेम न बाड़ी उपजै, प्रेम न हाट बिकाये।
अजबहिं सौदा प्रेम का, जो सिर दै, लै जाये॥"

■ बहार और बाग़ की सैर तो सबको पसन्द आती है, किन्तु प्रेमी को तो वही चीज़ पसन्द आती है जो प्रियतम् के ठिकाने की खबर दे।

■ होश गुम होते हुये जब हममें होश पैदा हो जाता है वही ज़िन्दगी की असली हालत है।

■ चाहे मुझे अपने दिल का एहसास भले ही न हो, किन्तु दिल को दिल का अंदाज़ सदैव रहेगा।

- श्री बाबूजी

*

तीन प्रश्न

(आध्यात्मिक-गतियों से ओत प्रोत कहानी)

''धधकती अग्नि में कूदकर बलि दे सकोगे? अपने हाथों अपना मस्तक उतार सकोगे? लहराते सागर में गोते लगा सकोगे नेमी? यदि यह असम्भव नहीं है, तो फिर सब कुछ सम्भव है।''

करबद्ध, नत-मस्तक खड़ा है नेमी।

दो चमकीले नेत्रों ने उत्तर माँगा। ''यदि नहीं, तो जाओ, लौट जाओ नेमी। यदि लुटना नहीं चाहते तो लूट भी कैसे सकते हो? यदि विक्रय नहीं जानते तो क्रय क्या करोगे? जाओ, जब असम्भव शब्द तुम्हारे लिये अर्थहीन हो जाये तब इस द्वार को खटखटाने का प्रयत्न करना, अन्यथा कष्ट करने से लाभ ही क्या'' निराश नेमी लौट चला अपनी कुटिया की ओर। इतना जप-तप किया। कितनी धूल छानी दर-दर की। कितने आश्रमों के आगे मस्तक झुकाया, किन्तु सब व्यर्थ। नेमी के नेत्रों से अविरल अश्रु धारा बाँध तोड़कर बह चली। देवी ने वरदान तो दूर रहा, एक बात भी न पूछी। सारी भक्ति, सारी साधना का कुछ भी परिणाम न निकला, उल्टे असम्भव शर्तें प्रस्तुत करके उसे निरुत्तर और निरुत्साहित कर दिया। किन्तु वे शर्तें क्या थीं? स्मरण करता जा रहा है नेमी ''धधकती अग्नि में कूदना असम्भव है। अपने हाथों अपना मस्तक तो क्या ज़रा सी उँगली काटना भी कठिन है, और लहराते सागर में गोते लगानां, नितान्त सारहीन शर्तें हैं।''

किन्तु नेमी.... यदि कोई भी इन्हें सम्भव न कर दिखाता, तो इन शर्तों की रचना ही क्यों होती? बिना नींव के दीवार नहीं खड़ी हो सकती। बिना जल के सृष्टि में प्यास का सृजन न होता और बिना सृजन के विनाश असम्भव है। ज़रा सोचो नेमी, सम्भव की नींव पर ही तो अनिवार्य की भीति खड़ी हुई है। संभव में ज्योति है, असम्भव में अंधकार। तुम किस ओर जा रहे हो?

''ओह!'' मस्तक पकड़कर बैठ गया नेमी। वह नेमी, जिसका ज्योति पीछा किया करती थी, आज अंधकार की ओर झांक रहा है। क्या नेमी दोषी नहीं? नहीं, कदापि नहीं। क्यों?

क्योंकि अंधकार की ओर झाँकने वाला नेमी नहीं, बल्कि उसकी प्रतिछाया थी। नेम साधते-साधते ही तो वह नेमी बन गया और दृढ़ता की ज्योति उसके मस्तक पर विराजने लगी थी।

एकाएक किसी का दृढ़, किन्तु मृदु-स्पर्शीय सुकोमल कर उसके मस्तक पर आ चुका था और वह कठोर हो चुका था। उसके नेत्रों में दिव्य ज्योति थी, दोनों मुट्ठियाँ कसी हुई थी। जा रहा है नेमी अपनी कुटिया की ओर। ''स्मरण रखना देवि कि तुम्हें कोई ऐसा पुत्र मिला था, जिसने तुम्हारी असम्भव शर्तों को सम्भव कर दिखलाया था। जिसने मस्तक को पैरों तले ठुकराया और चरणों को मस्तक का स्थान दिया। देखना मेरी जननी! तुम्हारे शिशु ने तुम्हारा स्तन्य लज्जित नहीं किया, वरन् आकाश के तारे धरणी पर तोड़ लाया। जा रहा है नेमी! यदि शर्तों को कभी सरल करके प्रत्यक्ष कर सका तो संसार पुनः उसका मुख देख सकेगा, अन्यथा नहीं।'' और वह चल पड़ा अज्ञात दिशा की ओर सदैव के लिये निर्जन वन में। किन्तु ?

किन्तु क्या है; नेमी नहीं रुक सकता, कदापि नहीं ठहर सकता।

''इतने व्याकुल से कहाँ चले जा रहे हो नेमी?''

''कौन निर्जन पथ पर भी मुझे पुकार रहा है? मैं किंचित मात्र भी रुक नहीं सकता।''

''रुक नहीं सकते, तो क्या ठहर भी नहीं सकते? निरन्तर वेग से बहती हुई नदियों के प्रवाह में भी ठहराव आता है। सागर की लोल लहरियों में भी क्षणिक ही सही, किन्तु ठहराव आता है। यही नहीं, समस्त-संसार-चक्र के भी विश्राम का समय कभी आता है, किन्तु तुम्हें कौन सा ऐसा काम है, जो तुम ठहरना नहीं चाहते। नेमी! ज़रा मैं भी तो सुनूँ?''

''अवकाश नहीं है।''

किन्तु तुम्हें अवकाश निकालना होगा।

गम्भीर वाणी निर्जन पथ पर गूँज उठी।

''बिना अवकाश के कोई भी समस्या आज तक हल न हो सकी है और न हो सकती है और न कभी होगी। इस चलते-फिरते मिट्टी के पुतले को भी एक न एक दिन अवकाश की आवश्यकता पड़ ही जाती है। मृत्यु शैय्या पर पड़े कंकाल को

भी तीन, केवल तीन हिचकियों के लिये ठहरना ही पड़ता है फिर मानव तो मानव है, उसकी बिसात ही कितनी?"

नेमी ने घूमकर देखा, तो अवाक्। सफ़ेद कुर्त्ता-टोपी पहने एक लकुटि के सहारे एक वृद्ध महापुरुष उसके पीछे चले आ रहे थे।

वह लौट पड़ा और महापुरुष के चरणों पर झुक गया। ब्रह्म-तेज से दीप्त मुख! वह दंग रह गया। "कौन दिव्य महा-विभूति आज इस धरणी तल पर मुझ दीन कीटाणु के लिये बिखर पड़ी है? मैं अपने समक्ष किन महात्मन् का दर्शन कर कृत-कृत्य हो रहा हूँ"।

"कहाँ नेमी? एक जीर्ण-काय मानव के लिये इतनी शब्द-रचना की क्या आवश्यकता थी। तुम्हें अवकाश न था। निरीह भोले मानव क्योंकि तुमने ऐसा द्वार ही न खोज पाया था, जिसमें प्रवेश कर जाने पर चारों ओर अवकाश ही अवकाश है। तुमने ऐसी भूमि ही न देखी थी, जिसमें आकाश व्याप्त न हो। तुमने ऐसी दैविक-विभूति ही न पायी, जो तुम्हें ऐसे द्वार तक पहुँचा सके, ऐसी भूमि पर खड़ा कर सके।" "तो क्या आज मेरी व्यथित पुकार सच ही ऐसे महामानव को धरा पर उतार लाई है? मैं क्या समझूँ मेरे वरदानी?"

"तुम कुछ न समझो नेमी। तुम वही समझो, जो समझने योग्य हो। समस्त धरणीतल, पाताल एवं आकाश में केवल वही एक शक्ति व्याप्त है, जिसे तुम किन्हीं कारणोंवश विस्मृत कर चुके थे। उसे ही स्मरण करो नेमी। तुम्हारा कल्याण होगा।" इतना कहकर सच ही न जाने कहाँ लुप्त हो गई वह शक्ति, और नेमी बेचारा अपलक निहारता रह गया उस दिव्य विभूति को जो मानों धोखे से इस धरणी पर बिखर पड़ी थी। वह चलता गया। कुटीर आ गया और उसके पैर स्वयं ही ठहर गये परन्तु नेमी को कुछ पता नहीं। कहाँ रुकना होगा? क्या जाने वह बेचारा। वह क्या जाने कि जैसे गन्तव्य आते ही अनजाने ही पग स्वयं ही ठहर जाते हैं, उसीप्रकार विचारते विचारते प्रश्न भी स्वयं ही सरल हो जाया करते हैं।

*   *   *   *   *   *

होली का प्रभात था। भुवन-भास्कर ने पिचकारी भरकर बिखेर ही दिया तूली रंग ऊषा पर। किन्तु नेमी के लिये होली नहीं, ठिठोली थी।

किसी ने मुस्कुरा कर कहा- "नेमी बगुला हो गया है।" किसी ने कहा- "गीध है गीध, ज़रा बचकर चलना भाई।" कोई धीरे से बोली- "महात्मा है

महात्मा, बचे रहना।'' ठिठोली थी न आज। परन्तु नेमी तो नेमी ही था। उसके लिये तो प्रतिदिन होली ही होली थी, क्योंकि उस पर रंग ही ऐसा चढ़ चुका था। पक्षियों का झुण्ड कलरव करता निकल जाता, परन्तु होश किसे था। ऊषा झिलमिल साड़ी पहिने आती, प्रतीक्षा करते-करते रुपहली पड़ जाती, परन्तु वह तो जैसे नेत्र फाड़ कर बैठा था।

अचानक कुटिया में आग लगी। वह धू-धू करके जल उठी। प्रज्जवलित लपटों के मध्य नेमी ने देखा कि क्षितिज पार एक मधुर-मुस्कान युक्त दिव्य-सरल मुखाकृति, और वह निर्निमेष निहारता ही रह गया। कुटिया जलते-जलते बुझने भी लगी। लपटें छोटी पड़ते-पड़ते समाप्त प्राय: हो चलीं। नेमी का सारा कार-बार जलकर भस्म हो गया, परन्तु अभी कुटिया सुलग रही थी कि एक मधुर स्वर ने उसके कर्ण-कुहरों में प्रवेश किया- ''नेमी, कुटिया तो जल गई। खैर, जाने दो, तुम तो बच निकले। प्रेम की नगरी में अग्नि में कूदकर बलि देना असम्भव तो है, किन्तु साथ ही अनिवार्य भी।''

* * * * * *

एक वर्ष बीता, दो वर्ष बीते। ग्रीष्म ऋतु थी। एक दिन नीम की छाँव में बैठा-बैठा ऊँघ सा गया था वह। शीतल, सुखद समीर मंद मंद गति से बह रहा था और वृक्षों की टहनियाँ झूम-झूम कर मस्त हो रही थी। तपित मृगछौनों का झुण्ड ऊँघते नेमी के मुख को मानों अपनी आँखों में बन्द कर लेना चाहता था। नेमी उन्हें चुगाता, जल पिलाता, उनसे खेलता, उनकी आपबीती सुनता और अपनी सुनाता और फिर चौकड़ी भरकर दौड़ में मानों प्रतियोगी के सदृश आगे-पीछे जाते देखकर घंटो ध्यानावस्थित हो विचारता रहता प्रार्थना करता- ''हे! ईश्वर तुमसे मिलने के लिए मेरे पगों में, मेरी चाल में वही गति हो, जो इन भोले-भाले मृगशावकों के पगों में विद्यमान है।''

आज उसे ऊँघते देखकर कुछ मृगों से रहा न गया। वे उसके शरीर से अपने शरीर रगड़कर अपनी खुजली मिटाने लगे। तब अचानक उसकी ऊँघ हटी और वह खेलने लगा एक अदृश्य खेल। (प्रेम की अंतिम दशा में डूब गया)

उसके कर मृगशावकों की पीठ सहला रहे थे और हृदय में अंतर्द्वन्द छिड़ा हुआ था ''कैसे पाऊँ? कहाँ ढूँढूँ? किससे पूछूँ? कहाँ जाऊँ? इससे तो नींद ही अच्छी थी, चैन तो था। स्वप्न में कभी 'उसके' दर्शन तो मिल जाते थे। इस जागने से तो अच्छा था कि निद्रा ही मिल जाती। ऐसा मन होता है कि मस्तक को काट कर फेंक दूँ''।

और अचानक बिजली सी कौंध गई।

"अपने हाथों अपना मस्तक उतार सकोगे?" दो चमकीले नेत्रों ने उत्तर माँगा। प्रश्न सरल हो चुका था, परन्तु अबोध था वह। क्या जाने बेचारा कि अनुराग चेतनाहीन होता है। फिर अचेतन जगत में चेतन से अनुराग कहाँ? उसे चुप देख मृगछौने भी एक-एक कर भाग गये। रह गया एकाकी विचारमग्न नेमी। उसके नेत्रों ने तो हृदयस्थल के भीतर किसी को बन्द कर कपाट दे लिये थे।

*　　*　　*　　*　　*　　*

दिन पर दिन, महीने पर महीने एवं वर्ष पर वर्ष व्यतीत होने लगे। नेमी का जीवन साधारणतः चल रहा था। जो मिलता खा लेता। जब मर्जी होती सो जाता। जब इच्छा होती उठ जाता। एक अलख-शक्ति उसे जहाँ बिठलाती, बैठ जाता, जब उठाती, उठ जाता, जो खिलाती खा लेता, जो पहिनाती पहन लेता। उसने तो मानों अपना सब कुछ खो दिया। (जो पहिरावे सोई पहिरुँ, जो देवे सोई खाऊँ)। किन्तु कोई उससे कहता कि- "सब कुछ खोकर ही कुछ पाया जाता है, नेमी! उठती पैंठ ही सस्ती रहती है। मिट्टी देकर ही हीरा खरीदा जा सकता है। मोल देकर ही अनमोल की प्राप्ति होती है।"

एक रात सोया पड़ा था नेमी। स्वप्न में देख रहा है कि सब ओर जल ही जल भरा हुआ है और जल के मध्य खड़ा है नेमी, न इधर चलता है, न उधर हटता है।

"ज़रा इधर आओ नेमी।"

कहाँ से सुमधुर स्वर आ रहा है। नेमी के कान खड़े हो गये।

"भाई, नेमी! इधर आओ न मेरे पास।"

पीछे मुड़कर देखा उसने, तो देखता ही रह गया। बहुत दूर तीर पर खड़ी वही दिव्य मूर्ति, और तुरत ही उसके नेत्रों के समक्ष घूम गया वह दृश्य ....

वह बड़बड़ा उठा- "लहराते सागर में गोते लगा सकोगे नेमी? यदि यह असम्भव नहीं है तो सब कुछ सम्भव है और......... जाओ, जब तुम्हारे लिये 'असम्भव' शब्द अर्थहीन हो जाये, तब इस द्वार को खटखटाने का प्रयत्न करना, अन्यथा कष्ट करने से लाभ ही क्या?"

और वह दौड़ चला तीर पर उस दिव्य मूर्ति के पास।

जल कमर तक आया, परवाह नहीं। बढ़ता ही जा रहा है वह ..... जल छाती

तक आया, चिन्ता नहीं। डग भरता ही जा रहा है वह। जल होंठों तक आया, परन्तु चेतना कहाँ उसे। वह और तेज़ी से दौड़ा किनारे की ओर।

और तब अचानक ही 'बुद-बुद' ध्वनि के बीच जलमग्न नेमी को दो सु-कोमल करों ने समेट लिया। वह उन चरणों पर झुककर उनमें समा जाना चाहता था। किन्तु चरणों पर झुकते ही? ......

''तीनों शर्तें पूरी हो गई नेमी।''

वाक्य पूर्ण होते न होते नेमी की आँख खुल गई। वह घबड़ा कर उठ बैठा, किन्तु उसके कर्ण-कुहरों में, अब भी गूँज रही थी- वह तीन, केवल तीन शर्तें। जिन्हें ईश्वर-प्राप्ति के लिये पूरा ही करना पड़ता है। बिना इन तीन दैविक-दशाओं को पाये असंभव लगने वाली ईश्वर प्राप्ति सम्भव नहीं होती है।

नोट :- मिट्टी प्रतीक है (शरीर की सुधि का) हीरा प्रतीक है (Divine) दिव्य-मूर्ति श्री बाबूजी का।

धधकती अग्नि-प्रतीक है दैविक प्रेम की तपिश।

अपने हाथों मस्तक काटना प्रतीक है प्रेम की अप्रतिम अवस्था का।

लहराते सागर में गोते लगाना प्रतीक है (Divine Ocean) में लय अवस्था का।

*

■ शक्कर खिलौना नहीं हो सकती और खिलौने में शक्कर मौजूद होती है, ब्रम्ह और जीव में भी यही अन्तर है।

- श्री बाबूजी

तुम्हें क्या दूँ भगवान्

बालक मचल उठा। हठ करने लगा माँ से। "मैं तुझे क्या दूँ, अच्छी माँ"? "मेरे बेटे! मुझे कुछ नहीं चाहिये। जो कुछ भी है, पर्याप्त ही तो है"

"नहीं माँ, आज यह न होगा। सदैव से तू यही कहती चली आ रही है। कुछ तो कह दे? देख, बंगाली, शुक्ला, सिन्हा और सभी साथी तो आज कुछ न कुछ अपनी माँ के लिये लायेंगे।"

"किन्तु, वे तो बड़े-बड़े हैं, तू तो सबसे छोटा है, मेरा लाल"।

"तो क्या हुआ छोटा होने से?"

"भाई, फिर कुछ आवश्यकता भी तो हो?"

"अच्छा न बता। मैं भी रूठ जाऊँगा। फिर देखूँ, कैसे मनाती है तू?"

"अच्छा, आ, बताऊँ। किन्तु .... "

"किन्तु क्या? बोलो न माँ।"

"भइया, जो तू मुझ से कहता है, सो भगवान से क्यों नहीं कहता?"

"तो भगवान से क्या कहूँ? उसे भला मैं क्या दे सकता हूँ?"

"यह उसी से पूछ लेना"।

"क्या पूछूँ? तू ही बता न माँ"

"यही कि- तुम्हें क्या दूँ भगवान्?"

"तो क्या, वह बता देंगे?"

"हाँ, अवश्य"

"किन्तु, माँ, जब तुझे ही कुछ न चाहिये, तो उसे क्या चाहिये? वह तो सबको सब कुछ देता है।"

"फिर भी उसे कुछ चाहिये बेटा। "

''अच्छा, तो मैं उससे अवश्य पूछूँगा। यदि उसने न बताया तो?''

''अवश्य बतायेगा।''

''वह मुझे मिलेगा कहाँ?''

''कहीं न कहीं तो मिलेगा ही''

''अच्छा, जाता हूँ। उससे पूछकर जो वह कहेगा, वही देकर लौटूंगा। ऐसा ही आशीर्वाद दे माँ।''

''जा, ऐसा ही हो बेटा''

माँ ने सिर डाले ही उसके सिर पर हाथ फेरा। उसके नयन-कोरों में जल-बिन्दु आकर छुप गये थे, फिर कैसे उठाती नेत्र। उसका जीवन अभी छोटा था। जीवन ने चरण-धूल मस्तक से लगाई और चल पड़ा भगवान् से पूछने। और विह्वल माता, देख रही थी अपने 'जीवन' को अपने से बिछुड़ते,परन्तु फिर भी हृदय पर बज्र रखे। उसे स्मरण आया, एक दिन ध्रुव की माता ने बालक ध्रुव को भेजा था गह्वर वन में। किसलिये? भगवान की अक्षय गोद में बैठने के लिये और आज? माता खड़ी थी। उसका 'जीवन' जा रहा था, भगवान् को कुछ देने।

अब तो सब मार्ग टेढ़े-मेढ़े ही दीखते हैं। चौरास्ते पर खड़ा 'जीवन' सोच रहा है। यहाँ तो कई मार्ग हो गये हैं। किस मार्ग पर वह जाये? घर से सीधा एक सरल मार्ग आ रहा था। उसी पर वह चला आ रहा था। ऐसे कब तक वह खड़ा रहे? चल पड़ा वह एक मार्ग पर। थोड़ी दूर चलने पर देखा, एक स्थान पर भीड़ एकत्रित है। झाँझ, मृदंग, मजीरे तथा करतालों की ध्वनि से आकाश तथा समस्त दिशायें मानों गुंजायमान हो उठी थीं। सब मस्त थे। मंच पर गेरुआ वस्त्रधारी साधु कह रहे थे- ''हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे''। फिर सब वही लाइन दोहराते। अच्छा समा बँधा था। 'जीवन' को भी अच्छा लगा। बालक था, लय पसन्द आ गई। 'बोल सियावर रामचन्द्र की जय'' की ध्वनि के साथ साधु बाबा ने कीर्तन समाप्त करके नेत्र खोल दिये। उसने सुना, बाबा जी कह रहे थे- ''बड़ा अच्छा कीर्तन हुआ। आज भगवान् भी वाह, वाह, कर रहे होंगे''। बालक जीवन के मन में उत्सुकता जागी। वह धीरे से आकर महात्माजी के पास बैठ गया और जिज्ञासा भरी वाणी में पूछा- ''महात्मन्! क्या भगवान यहीं कहीं पास ही में रहते हैं?'' बाबा जी मुस्कुराये, सिर पर हाथ फेरा। कहा- ''बेटा! भगवान् के नाम में ही भगवान् रहते हैं''। किन्तु बालक की जिज्ञासा उनके उत्तर से शान्त न हुई।

''कुछ दिन मेरे आश्रम में रहो बेटा! फिर तुम्हारी समझ में भी आ जायेगा''। जीवन ने स्वीकार कर लिया। वह वहीं खाना खाता। आश्रम से ही उसे महात्मा ने रंगीन वस्त्र दिला दिये और उसे 'राम' नाम मंत्र दे दिया। बाबा उसकी मोहिनी छवि और जिज्ञासा पर मुग्ध थे। उसे उपदेश देते, साधना बताते। वह भी धुन का पक्का था। मंत्र की रट लगाता तो लगाता ही जाता। रात्रि में जागकर कुछ अध्ययन, जो बाबाजी ने बताया, करता तथा उपदेश और कथा-वार्ता में भी पीछे न हटता था।

दिन व्यतीत हुए। महीने और वर्ष व्यतीत होने लगे। क्रम में सिवा तेजी के कमी न आने पाई। अब वह किशोर भी तो हो रहा था, किन्तु वय के साथ ही बुद्धि और जिज्ञासा की वृद्धि हो रही थी। उसे माँ की छवि उसका वाक्य- ''जो तू मुझ से पूछता है, भगवान् से क्यों नहीं पूछता बेटा?'' विस्मृत न होता था। उसे देना जो था।

अब उसका मन आश्रम से उचाट होने लगा था। क्योंकि उसकी जिज्ञासा की पूर्ति न हुई थी।

''बेटा! इन दिनों अनमने से क्यों दिखते हो?''

''मुझे देना जो है बाबाजी'' उसने व्यथित स्वर में उत्तर दिया।

''किसे दोगे? क्या दोगे?''

''भगवान को दूँगा, जो वह मांगेगा''। संक्षिप्त सा उत्तर था।

बाबाजी हँसे। तो मुझे न दे दो बेटा। बाबा को उससे सचमुच स्नेह था।

''तुम क्या भगवान् हो बाबा?'' उसने चरण पकड़ कर कहा।

''मुझमें भगवान् है; मैं भगवान् नहीं बेटा'' जीवन चुप था। क्या कहे? बात समाप्त हो गई।

और उसी रात, वह आश्रम त्याग चुका था। आश्रम के वस्त्र आश्रम में छोड़ दिये। बस एक रंगीन धोती अवश्य तन को ढाके थी, हृदय में कसक थी और नेत्रों से अविरल अश्रु धारा प्रवाहित थी। इसी अवस्था में चला जा रहा था किशोर 'जीवन'। कहाँ जाये अब? किसके पास जाये? इन्हीं विचारों में लीन सा चला जा रहा था। प्रात: होने को आया। शीतल मन्द समीर मन्द-मन्द गति से बहकर मानों थक गया है, यह जता रहा था और सच ही उसकी गति मन्द हो चली थी। ऊषा की अरुणाई मानों उसके नेत्रों के लाल डोरों से झाँक कर कंह रही थी कि वह रात्रि भर

का जगा हुआ है। एक स्थान पर बैठ कर वह श्रम मिटाने लगा।

अब मार्ग चालित हो चला था। वह भी पुन: चल पड़ा। उसे चैन न था। मार्ग छोड़कर छोटी सी पगडण्डी पर चल रहा था। चलते-चलते एक कुएं पर कुछ मनुष्यों को जल भरते देख कर वह ठिठका। आशामिश्रित दृष्टि से एक से पूछा- ''भाई, कहाँ से आये हो?''

''वह देखो'' युवक ने दाहिनी ओर एक लहराते झण्डे की ओर संकेत करके कहा। ''वह हमारा आश्रम है। हम वहीं से यहाँ जल लेने आते हैं''। 'जीवन' की उत्सुकता अधिक बढ़ी। ''क्या भाई, मुझे आश्रम में अपने गुरू के पास ले चलोगे?''

''अवश्य, चलो चलें।'' बस वह उनके पीछे-पीछे हो लिया। आश्रम पर पहुँचकर उसे गुरू के सम्मुख ला खड़ा किया।

''क्या चाहते हो बेटा! कैसे आये?'' महात्मा ने पूछा।

''मुझे तो भगवान् चाहिये महात्मन्''।

महात्मा हँसे। ''बेटा! जरा सोचो। जो वह है, सोई तू है।'' जीवन चौंका। ''नहीं महात्मन्! ऐसा न कहिये। मेरी आशा पर तुषारापात न कीजिये।'' ''भला बेटा! क्या शरीर और प्राण दो पृथक वस्तुएँ हैं। क्या जल से शीतलता पृथक हो सकती है?''

''नहीं महात्मन्! एक होते हुए भी हमें उसमें प्रवेश करने के लिये पृथक मानना होगा। मेरी आत्मा यही पुकारती है। मैं अपने वश का नहीं रहा। मुझे देना है।'' बस चरण स्पर्श कर वह लौट पड़ा, क्योंकि वह जिज्ञासु था और वे पूर्ण थे।

वह बढ़ चला अपनी लगन में और चलता ही गया। न भूख से पेट में चूहे कूदते थे और न प्यास से गला सूखता था। उसे धुन थी। वह धुनी तो जन्म का ही था, उसकी माता यही कहतीथी। अब वह पुन: मार्ग पर चल रहा था। ''भगवान् तुम कहाँ मिलोगे? कहाँ ढूँढू? और तुम्हें क्या चाहिये? बता दो न'' यही बड़बड़ाता चला जा रहा था।

सन्ध्या हो चुकी थी। वायु में शीतलता आने लगी थी। वह एक वृक्ष के नीचे विचारों में खोया सा बैठ गया था।

''क्या चाहिये युवक? '' अब वह युवक हो चला था। ''भूखे दिखते हो, चलो भोजन करो तथा विश्राम करो''।

ऊपर मुख उठाया, तो देखा, एक दुबली-पतली और गौर वर्ण भव्य मूर्ति (महापुरुष) एक छड़ी लिये सम्मुख खड़ी थी। चिपका पायजामा तथा मुख पर छोटी दाढ़ी थी। युवक ने नेत्र ऊपर किये तो देखता रह गया। वह भव्य मूर्ति मानों उसके हृदय पटल पर अंकित हो गई।

''हाँ, सचमुच मैं भूखा हूँ।''

''तो चलो, मैं भी कचहरी से घर जा रहा हूँ।'' वह साथ हो लिया।

आश्चर्य है, यह महान मूर्ति महापुरुष कौन है? इनके दर्शन मात्र से मेरी यह प्राचीन जिज्ञासा क्यों सोई सी जा रही है? मेरा मन क्यों नहीं व्यथित होकर पुकार रहा है कि-''मुझे भगवान् चाहिये''। वह तो लीन हो गया था। उसे यह तक विस्मृत हो चुका था कि न जाने कितने मार्गों से होता हुआ न जाने कितनी मंजिल तय करके वह यहाँ आया था।

कोठी आ गई। वे भीतर गये। कपड़े बदलकर बाहर बैठक में आये। उसके हाथ-मुँह धुलवाये, भोजन कराया। फिर कहा-''भाई, सो जाओ। बहुत श्रमित से दिखते हो।'' और वह सच ही तो सो गया था। जब नींद खुली, रात्रि के लगभग बारह बज रहे थे, परन्तु वे महापुरुष अब भी जाग रहे थे। 'जीवन' उठा और नीचे फर्श पर उनके पलंग के पास बैठ गया।

''युवक! तुम्हारा नाम?''

''मुझे 'जीवन' कहते हैं।''

''क्या चाहते हो भाई?''

क्या बताये अब 'जीवन'? किन्तु फिर भी स्मृति पर ज़ोर देकर उसने कहा- ''भगवान्''

''उससे क्या काम है भला तुम्हें?''

''उसे मुझे देना है। माँ की प्रसन्नता के लिये''।

''क्या दोगे?''

''जो वह माँगे'' संक्षिप्त सा उत्तर था।

अबकी बार वे मुस्कुराये तो मानों 'जीवन' नव-जीवन पा गया।

''अच्छा, रात्रि बहुत हो गई, अब सो जाओ।'' वह भी बालकों की भाँति

चुपचाप लेट कर सो ही तो गया। उसके मन की सारी चंचलता एवं अधीरता उन दिव्य पुरुष के दर्शन से शान्त हो चुकी थी। यही नहीं, उसका वह प्राचीन प्रश्न स्वयं उसी में लुप्त सा होने लगा था, क्यों?

यह पहेली थी, जो उन महापुरुष के बुझाये ही बूझी जा सकती थी।

प्रात: होने वाला था। वह स्वप्न देख रहा था। वही भव्य मूर्ति और उनके चरणों में सिर रखे था 'जीवन'। उसके विचार मानों उससे प्रश्न कर रहे थे। ''क्या चाहिये 'जीवन', भगवान्?''

हाँ, मन ने कहा।

''किसके चरणों में बैठा है? किंचित मुख ऊपर करके देख तो लो।'' वे अब भी मुस्कुरा रहे थे। अचानक ही 'जीवन' ने मुख ऊपर उठाया और हठात् उसके मुख से निकल पड़ा, वह गिड़गिड़ा उठा- ''तुम्हें क्या दूँ, भगवान्?'' किन्तु इसका उत्तर उन राज राजेश्वर-योगेश्वर के हृदय में बैठी मुस्कुराती उसकी ही माँ (भक्ति) दे चुकी थी-'जो तेरे पास हो''।

स्वप्न भंग हो गया। 'जीवन' आँख खोले भौचक्का चारों ओर निहार रहा था। कहाँ था उसके बचपन से अब तक का वह प्रश्न? उसकी हृद्तंत्री का एक-एक तार उस प्रश्न का उत्तर पा चुका था। मानों 'सहज-मार्ग' पा गया था।

नोट

मंजिल तय करना प्रतीक है ईश्वर-प्राप्ति के लिए तमाम साधनों को अपनाने का। प्रथम-भजन, कीर्तन, जाप आदि। दूसरा- अहं ब्रम्हास्मि। साँचा मार्ग है सहज-मार्ग ध्यान का ईश्वर में लय अवस्था की प्राप्ति।

*

चाह

कुछ भी हो, इस पर तो हमें विचार करना ही होगा कि आखिर 'चाह' शब्द की रचना क्यों कर हुई। कौन इसे लाया, यह कैसे बना। साहित्यिक तोड़-मरोड़ से हमारा कोई प्रयोजन नहीं, परन्तु इसके अन्तर का तीखापन हमारे अन्दर की किसी न्यूनता को प्रकट करता है एवं हमारे अन्दर के किसी जटिल रहस्य का उन्मूलन करना चाहता है। अब यह न्यूनता क्या है एवं वह रहस्य क्या हो सकता है, यह भी एक रहस्य है, जो कि रहस्यमय न होते हुए भी उसका (रहस्य का) आवरण डाले हुए है। इसका कारण केवल यही है कि हमारी दृष्टि कभी इस ओर गई ही नहीं और यदि कभी गई भी तो- 'यह हमारी सामर्थ्य के बाहर है'- बुद्धि को ऐसा भ्रम देकर वापिस लौट आई, अर्थात् उस खुले हुए अन्तर-पट पर उस अनावश्यक रहस्य के ऊपर भ्रम और निराशा का आवरण देकर हमने उसे और भी ढाँक दिया। कभी यह विचार न किया कि हम जितना भी ढाँकने का प्रयत्न करेंगे, उसे उतना ही गलत आवरण डालकर और भी दृढ़ होने का मानों अवसर देंगे। इसलिए उचित यही होगा कि हमें अपने को कोई अवसर ही न देना चाहिये, जब तक कि हम चाह को उसकी ही तपिश में झुलसा कर राख ही न बना दें। हम अपने को अवसर देते हैं, और देते ही चले जाते हैं। किन्तु किधर? चाह के तीखेपन की ओर जो सांसारिक वासनाओं एवं लौकिक आनन्द से सम्बन्धित है एवं जटिलता का कारण है उसके दूसरे ही छोर पर, जहाँ सरसता एवं सरलता और परमानन्द का साम्राज्य व्यापक है, उस तक हमारी दृष्टि पहुँचे, इतना अवसर हम नहीं दे पाते। इसका भी एक कारण है और वह भी कैसा हास्यास्पद कि हम आध्यात्मिकता चाहते भी हैं, किन्तु ईश्वर-प्राप्ति व प्रेम की हमें चाह नहीं। यह तो "गुड़ खाये, गुलगुलों से परहेज करें" वाली कहावत ही प्रत्यक्ष चरितार्थ है। आध्यात्मिकता की चाह है और परम जीवन-सर्वस्व ईश्वर-प्राप्ति की चाह नहीं, जबकि ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग ही आध्यात्म पथ है। सारी आध्यात्मिकता या आध्यात्मिक स्थितियाँ परम प्रियतम ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में बदलती हुई अपनी ही मनः स्थितियाँ हैं।

एक श्रेष्ठ चाहना ही तमाम लघु चाहनाओं को खा जाती है। समर्थ महापुरुष

की एक श्रेष्ठ चाहना ही धरणी पर अवतारों को उतार लाती है कि ''मुझसे भी कोई ऐसा बनता जिससे मेरी हालत भी लोगों को याद आती।'' केवल इतना ही नहीं हम अभ्यासीगण इतनी सी चाह मन में ठान लेते हैं कि:-

''नैना अंतरि आव तू ज्यों हौं नैन झँपेऊ,
ना हौं देखौं और को, ना तुव देखन देऊँ॥''

एवं जब मन की यह सहज बान ही पड़ जाती है कि- 'मो मन परी है यह बान, श्री प्रभू को रूप परिहरि ना चाहौं कछु आन', तभी मानों हमारे अंतर में भक्ति रूपी महानता का बीज प्रस्फुटित होकर पनपने लगता है क्योंकि 'हम' और 'हमीं' उसी समय मिटती है जब किसी की बड़ाई व महानता में हम अपने मन को लय करा लेते हैं एवं बार-बार उसका स्मरण करते हैं। इसमें एक भेद भी है और कहावत भी है कि ''ऊँट, जब पहाड़ के नीचे आता है, तभी उसे अपनी छोटाई का पता चलता है''। भेद क्या है? बहुत छोटा सा, किन्तु उसकी ओर दृष्टि नहीं जाती। वह यही कि हमारी तबियत में भीतर ही भीतर उस महानता के आनन्द से तुलना होने लगती है। फिर उस दृष्टि से हम अपने आपको छोटा अथवा सेवक पाने लगते हैं। अपने अहम् के ऊपर अनजाने ही मानों हम यह पहली ठेस दे देते हैं। यदि अंतर से उस तुलनात्मक-दृष्टि को हटा दिया जाये तो उन्नति का विचार ही मन में उठता रहेगा। वह तुलनात्मक दृष्टि ही हमारे में किसी कमी का विचार उत्पन्न कर देती है तथा यह कमी की अनुभूति ही हमारे अंतर में दैविक आनन्द की चाह को जागृत कर देती है, जो आगे चलकर तड़प बनकर सेवक को स्वामी की प्राप्ति के लिये तड़पाया करती है। तब जैसा कि हमारे 'श्री बाबूजी' का कथन है कि 'तड़प अपना रास्ता खुद टटोल लेती है 'यथार्थ हो जाता है। यह तुलनात्मक दृष्टि हमको बता देती है कि हमको कैसा बनना चाहिये एवं हमारी चाह भी उसी के अनुरूप ही उसमें अनुरक्त होती हुई श्रेष्ठ बनती चली जाती है। जब बनने का विचार मन में आता है तो वैसे ही उपाय भी सूझने लगते हैं और तभी 'उसकी' प्राप्ति के लिये हम प्रयत्नशील भी हो जाते हैं। परिणाम स्वरूप हम अपने परम लक्ष्य से कुछ न कुछ सम्बन्धित हो रहते हैं एवं हमारे विचार का केन्द्र भी वहीं केन्द्रित हो जाता है, जो कि रहते-रहते सतत् स्मरण या Constant Rememberance का स्वरुप ले लेता है। विचारों की वह गर्मी ही कभी आँसू बनकर, कभी आह एवं कभी तड़प बनकर प्रियतम 'मालिक' तक हमारा समाचार पहुँचाया करती है कि कोई बन्दा तेरी याद कर रहा है। जब 'मालिक' तक ख़बर पहुँच गई तो फिर कहना न होगा

कि सेवक का जीवन धन्य हो गया। 'मालिक' की अपार कृपा शक्ति एवं पावन-प्राण-शक्ति (फ़ैज) के सागर में सेवक का भी बहाव आरम्भ हो जाता है। तब क्या होता है कि "जब बुन्द में सिन्धु समाय गयो, तब बुन्दऊ सिन्धु कहावत है" की दशा के क्षेत्र में ही हमारा रमाव आरम्भ हो जाता है।

एक पर्वत की ऊँचाई पर चढ़ते समय जैसे उस पर बिखरी हुई प्रकृति की छटा को निरखने में निमग्न होकर हम ऊपर चढ़ते ही चले जाते हैं। उस समय हमें थकान या अन्य कष्टों का अनुभव नहीं होता है, अर्थात् उतने समय के लिये हम शारीरिक - भान से ऊपर उठ जाते हैं किन्तु उस पर्वत पर बिखरे प्रकृति दृश्य उस जड़ खण्ड की ही कोई अनोखी कलाकृति नहीं कही जा सकती, वरन् उस प्रकृति-सौन्दर्य की अधिष्ठाता शक्ति कोई और ही है, जिससे सम्पूर्ण प्रकृति ही प्रकाशित होकर उस जड़ पर्वत खण्ड को भी शोभायमान बना देती है। यदि हम अपना मार्ग व दिशा बदलते जांय तो वे प्रकृति के खेल भी तमाम रंगों व दृश्यों में परिवर्तित होते चले जाते हैं। इसीप्रकार हमारी आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में श्रेष्ठ एवं पावन चाह हमारे अन्तर के तमाम आवरणों को भेदन करती हुई एवं हमारी गति व दृष्टि को अंतरिक्ष बनाती हुई अपनी अधिष्ठाता-शक्ति परमात्मा में लयलीन हो जाती है। हमारी गति गीता में कथित स्थित-प्रज्ञ वत् हो जाती है, और यहां हमारी चाह या आध्यात्मिक-स्थिति का स्थूल स्वरुप समाप्त हो जाता है। सेवक को सेवकाई के मैदान की आवश्यकता तो समाप्त हो जाती है, परन्तु सेवक तो फिर भी सेवक है, यह बात तो रहती ही है। यहाँ पर आध्यात्मिक-खेल का मैदान समाप्त होकर अलौकिक एवं दिव्यतम् दशाओं का प्रारम्भ हो जाता है, अर्थात् तब से फिर प्रियतममयी शक्ति व गति का दिव्यारम्भ होता है, जिसे देखने के लिये दिव्य दृष्टि भी 'मालिक' को देनी ही पड़ती है।

यह तो कहना ही पड़ता है कि 'प्रियतम' व 'मालिक' शब्द से मेरा अभिप्राय केवल एक समर्थ सद्गुरू श्री बाबूजी से ही है, जो कि समय में केवल एक ही होता है। भाई, जब हमारा बनाया खेल बिगड़ गया तभी आध्यात्मिक-शब्द का मूल्य हमारे लिये समाप्त हो गया समझना चाहिये। कितनी सरल बात है कि अपने बनाने की चाह ही अपना बनाया खेल बिगाड़ देती है किन्तु इससे भी भला हमारा प्रयोजन क्या है? हमारा प्रयोजन तो केवल इतने से ही है कि:-

"जो लोहे को सोना कर दे, वह पारस है कच्चा।
जो लोहे को पारस कर दे, वह पारस है सच्चा॥"

ऐसे ही पारस की चाह से हमारा प्रयोजन है। कितना सत्य एवं सहज तथ्य है कि लोहे को पारस बना देने वाली शक्ति वही है, जो अपनी इच्छा शक्ति द्वारा द्वैत-रूपी बादलों का निराकरण करके हमारे अंतर की सोई मन: शक्ति को जागृत करके उसे बल देती रहती है। कहा भी है कि मानव मन तकुला है, जो बार-बार झोल खाता है, लोहार सद्‌गुरू है जो मन को राह पर डालता है। फलत: जो हमारे अंतर में छाये अवसाद, कालिमा, ठोसता एवं दुख के बादलों को छिन्न-भिन्न करके हमारी चाह या इच्छा को उस अनन्त चेतन-भण्डार (ईश्वर) से सम्बन्धित कर देता है, जो कि सदैव अपनी भीनी-भीनी पावनता से हृदय को पखार कर निर्मल, सरस व सरल बनाया करती है। वास्तव में हृदय की सरलता ही साधना का साफल्य है। किन्तु हम सरल रहने का अभ्यास करें, ऐसा नहीं, क्योंकि हृदय की पवित्रता के समय ही हम जिस गति व आनन्द का अनुभव करते हैं, वह वास्तविक गति व आनन्द नहीं है। वरन् जब मन की सहज अवस्था में भी हम वही आनन्द या स्थिति अनुभव कर पाते हैं, वही वास्तविक एवं सतत् दशा है। इतना ही नहीं, जब हमारा कुल बाह्य व अंतर का स्वरूप एकसा होकर फिर विस्मरण होने लगता है, वही वास्तविक स्थिति है।

आध्यात्मिकता का सम्बन्ध केवल हमारे अंतर से ही होता है किन्तु हमारे वाह्य स्वरुप व व्यवहार में हमारी अंतर दशा की ही प्रतिछाया झलकती है। तभी वास्तव में इस कथन की भी पुष्टि हो पाती है कि:- " Face in the index of mind' अर्थात् तब हमारी मन:स्थिति भीतर-बाहर एक सी बनी रहती है। संत तुकारामजी का कथन कि- ''गुड़ से मीठे हैं भगवान्, भीतर-बाहर एक समान'' भी हमारे अन्तर की इसी स्थिति को लेकर ही मुखरित होती है। आंतरिक स्थिति ही हमारे व्यवहार का दर्पण है, जिसमें हमारा व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है। हमारी आत्मिक-स्थिति से ही हमारा व्यक्तित्व प्रगट होता है। अंतर-मन के लिये अब तक कोई आवरण नहीं तैयार किया जा सका है, जो कि उसे ढाँक सके, हाँ, समर्थ एवं दिव्य पुरुष का दैविक व्यक्तित्व ही उस पर छा जाता है। Body Consciousness जाने पर तो मानव विराट् होता है, किन्तु Soul-Consciousness भी चले जाने पर मानव अथाह हो जाता है और अथाह का व्यक्तित्व ईश्वरीय हो जाता है। इसलिए ऐसी दिव्य विभूति के चरणों में पहुँच कर उससे विशुद्ध अलौकिक प्रेम करना प्रारम्भ कर दे व उनके बताये अभ्यास की पूर्णता में निमग्न हो जावे, तभी अंतर की वास्तविक दिव्य चाह की हम पूर्ति कर पाते हैं। जिसप्रकार योग्य दृष्टि रखने वाला कुशल शिल्पी एक साधारण

पत्थर में भी देवाधिदेव का दर्शन कर सकता है, क्योंकि वह स्वयं उसका अभ्यस्त है, परन्तु लोगों को प्रत्यक्ष बतलाने के लिये उसे उन अनावश्यक चीजों को छेनी से तराश कर हटाने को धैर्य एवं समझ की आवश्यकता पड़ती है, उसीप्रकार समर्थ सद्गुरू को मनुष्य-मूर्ति के अंदर ज्ञान एवं ईश्वर-प्राप्ति को प्रत्यक्ष अनुभव कराने के लिये उसकी चाह एवं इच्छा शक्ति को एवं उसके कुल System को अपनी पावन प्राणाहुति के प्रवाह द्वारा दैविक इच्छा शक्ति से श्रेष्ठतम अवस्था में निखारने के लिये बड़े धैर्य, कुशलता एवं वात्सल्य से काम लेना पड़ता है। यद्यपि आध्यात्मिक उन्नति, व्यक्ति चेष्टा पर ही बहुत कुछ निर्भर है किन्तु यह चेष्टा भी पूर्ण तन, मन एवं लगन से ही होनी चाहिये। अधूरे चित्र से हम केवल अधूरे चित्रों की ही राह रेखा अंकित कर पाते हैं। उन्हें पूर्ण कर पाने के लिए हम पूर्ण एवं सक्षम सद्गुरू श्री बाबूजी के हाथों में ही अपने को पूर्णतय: समर्पित कर देना होता है। अर्थात् हम 'उनमें' विशुद्ध प्रेम अर्थात् सहज-प्रेम करना आरम्भ कर दें। Pure Love में जैसा कि एक बार हमारे श्री बाबूजी ने बताया था- "Unconscious devotion रहता है, जो कि पूर्ण लय-अवस्था की कुंजी है जो चीज़ जीव और आत्मा के मध्य विस्तृत भेद को अनजाने ही हमारे समक्ष खोल देने के लिये 'मालिक' को मजबूर कर देती है वही Unconscious devotion है। अथवा यों कह लीजिये कि हमारी हुजूरी अर्थात् स्मरण और 'मालिक' की वात्सल्यमयी मजबूरी ही Unconscious devotion है एवं वह चीज़ चाहे कुछ भी हो, वही लय-अवस्था का प्रारम्भ है और यह तो मानव धर्म ही है कि जहाँ से आया है, वहीं अपना खेमा गाड़े रहे। वह इसीप्रकार सम्भव है कि हम निज विचारों की लड़ी को ईश्वर से ऐसे सम्बन्धित किये रहें कि एक क्षण को भी पृथकता का आभास न आने दें। कार्य तो कार्यों की आवश्यकतानुसार होते हैं और होते रहेंगे, हमें तो अपनी दृष्टि को अपने परम पूज्य 'श्री बाबूजी' के बताये अनुसार ईश्वरीय-सामीप्यता के अंतर में ही गाड़ देना चाहिये फिर जहाँ उसने (दृष्टि ने) अपना ठिकाना बना लिया, वहाँ उसे फिर अपने अनुरूप ही अनुपम आनन्द का क्षेत्र मिलने लगता है। तब दृष्टि में फैलाव, एवं साथ-ही-साथ निज सूक्ष्म सहज रूप का पसारा भी होने लगता है। जहाँ विचारों का तथा विकारों का बन्धन नहीं उस दृष्टि में छोटा-बड़ा नहीं, मान-अपमान नहीं, जाति-कुजाति ऊँच नीच के सारे भेद समाप्त हो जाते हैं। वहाँ फिर क्या है? केवल ईश्वरीय पसारा ही पसारा, किन्तु उस पसारे में हमारा 'मैं' सम्मिलित नहीं होता, वरन् हमारी चेतना में एक सहज-सुखद

हल्कापन एवं स्वत: सत्य जैसी स्पष्टता उत्पन्न हो जाती है। किसी ने कितना सुन्दर कहा है कि:-

''कोई माया, कोई भय भ्रम न रहा, कोई पर्दा, कोई संशय न रहा।
आईना शकल तेरी क्या जाने, तू रहा पास तो फिर मैं न रहा॥''

वास्तविक बात तो यही है कि जिसने अपने मन की गागर में अपनी पावन प्रेममयी चाह द्वारा सचराचर विश्व के आधार एकमात्र ईश्वरीय सागर को पैठा लिया है, वास्तव में उसे ही अपूर्व दैविक ज्ञान-राशि प्राप्त हो जाती है। जिसके मन की लौकिक-लोनी 'मालिक' के पावन स्मरण द्वारा छूट जाती है, उसे ही अलौकिक सुख मिलता है। जिसके हृदय मन्दिर में 'उनकी' ही प्रेममयी मधुर-मूर्त्ति के अतिरिक्त कुछ भी दूसरा शेष नहीं है, ऐसी ही श्रेष्ठतम् चाह वाला मानव ही वास्तव में धनी है एवं उसका ही जीवन धन्य है। अपने प्रियतम 'मालिक' श्री बाबूजी के समक्ष केवल एक यही आंतरिक चाह है कि:-

''शाख पे शोलएगुल की लपक हो, चर्ख पे अंजुमोमाह।
दुनियाँ पर सूरज की चमक हो, मुझ पे 'तेरी' निगाह॥''

■ अभ्यासी को मैं सदा तेज एवं परिपक्व चाहता हूँ, जिससे कि 'मालिक' से मिले प्रसाद में, मैं उन्हें अधिक से अधिक साझीदार बना सकूँ।

■ सदगुरू साधक से अपने परिश्रम के बदले में केवल इतना ही चाहता है कि वह ईश्वर को अधिक से अधिक अपनाये।

- श्री बाबूजी

*

साधन पथ

बहुधा साधकों के हृदय में यह प्रश्न रहता है कि- 'हम कैसे जानें कि हम आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति-पथ पर अग्रसर हो रहे हैं''। प्रश्न तो यह साधारण ही है, किन्तु इसका उत्तर कदाचित् गम्भीर हो सकता है। वह यह कि हमारे अन्दर भी कोई अलौकिकता एवं विलक्षणता उत्पन्न होकर जीवन में ऐसा घर कर लें, कि हमारा जीवन उस मय ही हो जावे। वैसे तो कोई न कोई विलक्षणता प्रत्येक मानव में पाई जाती है एवं महापुरुषों में कुछ विशेषता लिये होती है किन्तु जहाँ तक इनका (विलक्षणता का) सम्बन्ध है, वे त्रिगुणों, अर्थात् सत्,रज एवं तम के ही अन्तर्गत पाई जाती है। उदाहरण स्वरुप अमुक पुरुष के मुख पर ऐसी शान्ति विराजती है, मानों शान्ति की प्रतिमूर्ति ही हो। कहते हैं कि प्राचीन काल में ऋषियों के आश्रमों में सिंह एवं मृगशावक एक ही घाट पानी पीते थे, इत्यादि-इत्यादि। किन्तु साधकीय-जीवन में इन सब बातों की महानता केवल सत् के प्रधान होने के लक्षण तक ही सीमित है। जहाँ तक आध्यात्मिक उन्नति का प्रश्न उठता है, वहाँ पर तो एक अनोखी पावन विलक्षणता ही उससे सम्बन्धित है, अर्थात् वह महानता एवं विशेषता जो हमारी अन्तरात्मा में या ईश्वर में पाई जाती है, तथा जो संत-महात्माजन कहते चले आये हैं एवं गीता में भी जिसका प्रमाण है कि:-

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारूतः॥

यही बातें हमारे जीवन में उतरने लग जायें। जब हम आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति करते हैं तो सर्वप्रथम जो हमारी अन्तरात्मा की विलक्षणता की प्रशंसा में आता है कि 'संग रहते हुए भी असंग होना', यही विलक्षणता हमारे जीवन में घर कर जाती है। हम तमाम लौकिक-कार्य करते हुए भी उससे असंग अर्थात् अकर्त्ता ही रहते हैं। ऐसा तो होता ही है, क्योंकि ऐसा होना अनिवार्य ही है, एवं संस्कारों का बनना समाप्त होने का लक्षण भी यही है। किन्तु ऐसा होता तभी है, जबकि हमारी साधना का पथ सहज, सीधा-सादा, एवं वाह्य आडम्बरों से रहित होता है। इसकी पहिचान भी यही है कि साधक, पथ में फिर कभी चैन से बैठने नहीं पाता

है। खाना पीना और सोना सब हराम हो जाता है। ऐसा तो होता ही है, क्योंकि साधना अपने साध्य से योग कर देने का ही एक साधन होता है। साधन में हमारे प्रियतम ईश्वर की शक्ति एक समान गति से प्रवाहित रहती है, जो कि सर्वप्रथम हमारे मन में चैन को ईश्वर की उस प्रवाहित शक्ति से बाँधकर हमको संसार के कर्मों से बेसुध बना देता है और स्वयं निरीक्षक बन जाती है कि न इधर के यानी संसार के कर्म में चूक होने पाये और न उधर के अर्थात् मन की उच्चतम अवस्था में किंचित मात्र भी अन्तर आने पाये। ईश्वर के स्मरण एवं ध्यान की वास्तविक स्थिति भी यही है कि-''दुरंगी छोड़कर एक रंग हो जा, सरापा मोम हो या संग हो जा।'' आत्मिक उन्नति की कसौटी की परिभाषा यही है।

लेखक स्टीवेन्सन का कथन है कि सरलता ही मुक्ति है और जटिलता ही बन्धन है और आध्यात्मिक क्षेत्र में इसका ही बहुत महत्व है, क्योंकि सरलता-मय जीवन की प्रशंसा यही है कि संग रहते हुए भी असंग हो। वैसे अभ्यास करके भी अपने को अत्यन्त विनम्र एवं सरल बनाया जा सकता है, किन्तु दोनों में तनिक अन्तर अवश्य रहता है। जिसने गुण को अपने में उतारने का अभ्यास किया, वह त्रिगुणों के ही अंतर्गत रहा है और जो साधना द्वारा हमारे अन्तर में प्रस्फुटित होता है, वह तो एक सहजता एवं विलक्षणता लिये होता है। जीवन में स्थित रहते हुए भी हमें उसका आभास नहीं होता, और न हमें बारम्बार उसकी सँभाल करने की ही आवश्यकता रहती है, क्योंकि वह वस्तु तो स्वाभाविक तौर पर ही हमारे अन्तर में उतरी हुई है, जो कि दोषों से घिरे रहने पर भी हमें अदोष रखती है, किन्तु जो सरलता अभ्यास द्वारा हम में आई है, वह हमारी अपनी कमाई है, जिसका क्रय और विक्रय लगा ही रहता है। छोटा बालक बिल्कुल निर्दोष एवं निःसंग रहता है, क्योंकि उसकी चेतना उसके अहं और बुद्धि से परे एक पावन चेतना में ही सीमित रहती है। इसप्रकार निष्पाप होकर एवं जीवन में मुक्त होकर हम विराट् बनते हैं। ईश्वर मय जीवन एवं विराट् के साथ मिला हुआ जीवन ही हमें भूमा या अमृत सुख की ओर ले जाता है। यजुर्वेद यही कहता है कि- ''हे! शान्ति के आँगन में खेलने वाले अनन्त प्राणी यदि जीवन में किसी बात की इच्छा करते हो, तो भूमा के लोक की इच्छा करो।'' यदि हम यह कहें कि साधना में भेद होता है तो यह असत्य ही होगा, क्योंकि भेद साधना में नहीं होता वह तो क्रिया में होता है। साधना तो वही है जिससे कि हमारा प्रियतम् साध्य दिनों दिन हमारे समीप खिंचता आता है, या हमें अपने में लय करता चला जाता है और जिन उपायों से हम वास्तविक साधना की प्राप्ति करते हैं, वह क्रिया है।

साधना विलक्षणता, शान्ति एवं सरलतामय एवं अहम्ता-रहित होती है और क्रिया भी यदि सादगी (जो कि क्रिया का प्राण है) से रहित हुई तो वह अहंता और हठ लिये होती है और साधक को यही प्रदान करती है। साधना चैतन्य, ईश्वरमय है, इसलिये सरल और नित्य आनन्दमयी है, किन्तु स्वयं नित्य नहीं है, क्योंकि साधना तो साध्य का वह प्रकाश पथ है, जिस पर चलता हुआ उस अनन्त पथ का पथिक कभी पथ-भ्रष्ट नहीं हो सकता है, जिसे ईश्वरीय-प्रकाश के नाम से पुकारा जाता है, जो कि सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है, जिसका दूसरा नाम प्रेम है, जो कि अपने प्रयोजन पर आधारित है। उसमें स्वयं मानो कोई शक्ति नहीं है। इसकी डोरी में बँधे साधक की तो बस यही गूँगी पुकार एवं सूखा रोदन रहता है कि:-

"प्रेम प्रीति को बिरवा चल्यो लगाय।
सींचन की सुधि लीजियो मुरझि न जाय।।"

अर्थात् सींचने की भी सुधि तुम्हीं लेना। होता भी ऐसा ही है कि वह सर्वान्तर्यामी, साधक की तमाम त्रुटियों को अपनी क्षमा में गूँथकर अपने गले में डाल लेता है और साधक को मुक्त कर देता है। एक बार परम पूज्य श्री बाबूजी महाराज ने लिखा भी था कि एक समय ऐसा आता है कि "साध्य को साधक के संस्कारों को शीघ्र समाप्त करने के लिये उन्हें स्वयं भोगने के लिये मजबूर होना पड़ता है।" इसलिये कि जब देने की व्यथा हमारे हृदय-तल में बज उठती है, तो फिर हमारी वेदना 'उसकी' वेदना में मिलेगी ही। यमुना की काली धारा को गंगा में मिलना ही होगा। यह देने की व्यथा ही साधक को मिटा देती है।

प्रकृति का कुछ ऐसा नियम है कि जिस पर हम प्रसन्न होते हैं, उसे कुछ देना चाहते हैं। इसीप्रकार जब साधना द्वारा हमारे अन्तर का घर उसके प्रेम से लबालब हो जाता है, हमारे अन्तर का प्रांगण प्रियतम् की ज्योत्सना से चमक उठता है, तो हमारे अन्तर में 'उसे' कुछ देने की वेदना भर उठती है। किन्तु वह भोला साधक या प्रेमी क्या जाने कि उसकी वेदना उसे ही खा जायेगी, उसके अंतर के घर को अनजाने ही प्रियतम के चरणों में लुटाकर अपने अन्तर में भरी उसकी पावन, सरल एवं आनन्दमयी ज्योत्सना को भी प्रभु पर ही न्योछावर करके एक ऐसी डगर में पहुँच जाती है जहाँ पर स्वयं उसके ही समा जाने के लिये स्थान नहीं मिलता। फिर तो लाचार उसका अहं भाव भी लौट जाता है, एवं साधक लय-अवस्था के अविरल-सागर में डूब जाता है और प्रियतम् के स्थान का पता देने वाली साधना का अंत हो जाता है। अब वह एक ऐसी विलक्षणता के क्षेत्र में व्याप्त हो जाता है

कि जहाँ पर प्रियतम् की पहचान एवं आत्मिक उन्नति की पहचान, ऊँच-नीच की जाँच, रूप, रस गन्ध, स्पर्श, शब्द इन सब पर पानी फिर जाता है। तब वह सर्व व्यापक, सर्वदर्शी, सर्व-प्रिय, एवं सर्व-शक्तिमान् होता हुआ भी नूतन बालवत् निर्दोष अवस्था में विचरने लगता है।

बहुधा भाइयों का यह कथन होता है कि अमुक संस्कारी व्यक्ति है, वह ईश्वर को प्राप्त कर लेगा, हम तो सांसारिक झंझटों में घिरे, पाप-पुण्यों में फँसे भला ईश्वर तक किस प्रकार पहुँच सकते हैं। हम सूर्य के प्रकाश से जितनी अधिक दूरी पर होते हैं, आप कहते हैं कि परछाईं उतनी ही अधिक लम्बी दिखाई पड़ती है। अपना साया उतना ही लम्बा होता जाता है, किन्तु हम प्रकाश के जितने निकट होते जाते हैं, अपनी परछाईं भी छोटी होती जाती है। ईश्वर करे कभी जब सूर्य बिल्कुल सिर पर ही आ जाता है तो अपनी परछाई अपने में ही विलीन हो जाती है। उसी प्रकार हम जितना ही ईश्वरीय-प्रकाश से दूर होते हैं, अहंता का साया, अज्ञान व दु:ख की छाया लम्बी ही होती जाती है। किन्तु सद्गुरू की कृपा रूपी साधना द्वारा ज्यों-ज्यों हम 'उसके' सन्निकट पहुँचते जाते हैं हमारी अपनी परछाईं छोटी पड़ने लगती है और एक दिन जब जान या अनजान में भी समाधि लय एवं मुक्तावस्था में पैरते हुए, एक ऐसी वेदना लिये उसके क्षेत्र में जा पहुँचते हैं कि:-

घनश्याम बता दो कि कभी दीद भी होगी।
हर रोज मोहर्रम है,कभी ईद भी होगी॥

तो फिर हमारी परछाईं सदैव के लिये हमारा साथ छोड़कर विलीन हो जाती है। तब जीवन में अन्दर, बाहर, कण-कण में एक दिव्यता घर कर लेती है, वह व्यापक हो जाती है। महापुरुषों का कथन है कि- 'यदि अपने साये से पीछा छुटाना चाहते हो तो ईश्वर के साये में आ जाओ, तुम्हें दुख न व्यापेगा। फिर प्रियतम् से दूरी ही कितनी शेष रह जाती है? किसी ने कितना सत्य कहा है कि:

''मन के अन्दर मन का प्यारा है मगर मिलता नहीं।
आँख में आँखों का तारा है, मगर मिलता नहीं॥''

यह अवश्य है कि ''होनहार बिरवान के होत चीकने पात'' किन्तु वह तो कुछ सीखने के लिये हमारे समक्ष महापुरुषों के उदाहरण हैं।

कहते हैं कि तू अपनी तुच्छता की ओर ध्यान देकर क्यों दुखी होता है, अपनी असमर्थता को देखकर क्यों निराश हो रहा है? तनिक वट के समान विशाल वृक्ष

को उत्पन्न करने वाले बीज को देख। उसमें कितना बड़ा वैभव छिपा है। तनिक उस रज-कण को देख, जो अपने सहयोग से गगन चुम्बी प्रासादों को स्थिर रखता है। तू तो उस अचिन्त्य-शक्ति के साये में आ जा, फिर तेरी गणना भी केवल अपने व्यक्तित्व पर निर्धारित न रहकर सर्वमयी हो जायेगी। योगवाशिष्ट का कथन है कि- 'गरीब वह नहीं, जिसके पास कम है, परन्तु वह है, जिसकी आवश्यकतायें अधिक है।'' इसप्रकार महात्मा के समक्ष पाप, पुण्य का कोई स्वरुप नहीं, जिससे हम उन्हें पहचान लें, बल्कि ऐसा कह लें कि जैसे English में दो शब्द हैं, Sun और Sin./ Sun का अर्थ है सूर्य अर्थात् प्रकाश और Sin के अर्थ हैं पाप या अन्धकार। अब वह प्रकाश या यह अन्धकार क्यों बन गया जबकि प्रारम्भ का अक्षर S और अन्तिम अक्षर N दोनों में समान ही हैं। बस अन्तर केवल मध्यम से है कि Sun का मध्यम एवं कर्त्ता है U अर्थात् 'तू' और Sin का मध्यस्थ एवं कर्त्ता है 'I' अर्थात् 'मैं', जिसने दोनों शब्दों की समानता में जमीन-आसमान का अन्तर उत्पन्न कर दिया। प्रथम के मध्यस्थ तो लोटता है साधना एवं समर्पण और दूसरे के मध्यस्थ विराजती है अहंता।

इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम साधना ऐसी चुनें जो कि हमारी अन्तर व बाह्य वृत्तियों को समेट कर एक समान स्थिति में स्थित कर दे। स्थित करने के लिये स्थिरता ही प्रधान सहायक सिद्ध हो सकती है, जिसे हम ध्यान के द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। दर-दर भागने वाले भिखारी से पूछो, जिस बेचारे को दस जगह गाली खाकर तब एक जगह कुछ भीख मिलती है। जब भिखारी ही का बाना ओढ़ा तो ऐसे एक ही दर पर क्यों न जा पड़े, जो कि हमारी सारी आवश्यकता बिन माँगे ही पूर्ण कर दे। किन्तु ऐसा होता तभी है कि:-

'कबिरा कूता राम का, मोतिया मेरा नाँव।
गले राम की जेंवरी, जित खींचे तित जाँव॥'

जब ऐसी समर्पणता एवं ऐसा ध्यान उत्पन्न हो जाये जो कि ध्यान करते-करते स्वयं को तो भुला ही दे, ध्यान का भी ध्यान जाता रहे, तब उस बेसुध, दीवाने भिखारी को खाई-खन्दकों से बचाता 'राम' स्वयं ही लिये चलता है। यही बात प्रत्येक साधक में उत्पन्न होना अनिवार्य है। पथ एक ही है, ईश्वर के घर की राह एवं उससे मिलने का समय एवं भाँति एक ही है। साधन पथ पर अग्रसर होते हुए साधक को आनन्द व आध्यात्मिक-स्थितियाँ एक समान ही मिलती हैं; किन्तु ऐसा होता नहीं, क्योंकि साधक अनेकानेक क्रियाओं से इसमें भिन्नता उत्पन्न कर लेता

है। अन्तर इतना हो जाता है कि उस मदहोश को तो केवल 'राम' से काम रहता है और इधर हम क्रियाओं में आनन्द मानकर उसी में लिप्त हो रहते हैं। वास्तव में पूजा अर्चना एवं वंदना वही है जिससे कि:-

''छाँड़ै सुरति शरीर कौं, तेज पुञ्ज में जाय।
दादू ऐसे मिल रहै, ज्यों जल जलहिं समाय॥''

तो फिर वही स्थिति स्वयं ही आ जाती है कि- ''बैठे, सूते, पड़े उतान, जब देखो तब वही ठिकान''। भाई, सत्य भी है कि- ''कस न दीदम कि गुम शुद आज रहे-रास्त'' अर्थात् सच्चाई के रास्ते से किसी को गुमराह होते नहीं देखा। फिर तो वह कहीं जाये, कुछ भी करे, सब कुछ ईश्वर के अनुकूल ही होगा। किन्तु ऐसे प्रेम की स्थिति उत्पन्न करने के लिए भी आधार चाहिये, क्योंकि यह प्रेमाग्नि होती तो सभी के हृदय में है, किन्तु उस पर राख पड़ी हुई है। जब सद्गुरु उस राख को अपनी प्रबल इच्छा-शक्ति से फूँक देता है, तो प्रेम का दहकता हुआ अंगारा निकल आता है। किन्तु भाई, कुछ भी हो, बिना अन्तर में घुसे मर्म किसी ने नहीं पाया। बिना गहरे में गये मोती किसी ने नहीं पाया। हाँ, इतना अवश्य है कि अन्तर में रहने की तभी तक आवश्यकता है,जब तक साधक में शक्ति न आ जाय, अंग-प्रत्यंग में प्राण न भर जाये। जब अग्नि जैसी जलने वाली हलाहल को सुधा की भाँति पी डालने की शक्ति उसमें आयेगी, तब निर्भय होकर अन्तःपुर से बाहर आकर स्वतंत्रता के साथ घूमने लगेगा, क्योंकि तब धूल में लोटने पर भी वह शुद्ध रह सकेगा। सब तरह के बन्धन अपने पर वहन करने पर भी वह स्वाधीनता के साथ सब जगह संचरण कर सकेगा। ऐसी शक्ति जब तक नहीं, तब तक अन्तःकरण के अन्तःपुर में पड़े रहना ही ठीक है। मैं तो यही कहूँगी कि साधना का वास्तविक स्वरुप तो तन्मयता ही है, जो साधक-जीवन का प्रधान अंग है। मदिरा के मद में तो मनुष्य कुछ समय के लिये अपने आप को भूल जाता है, किन्तु साधन पथ में तो प्रियतम् परमात्मा की पावन रुप-माधुरी का पान कर साधक चिर काल के लिये अनन्त समाहित सिद्धि को प्राप्त कर विलीन हो जाता है। जिसप्रकार रक्त का संचार मानव धमनियों में होता रहता है, उसी प्रकार भगवान् की अनन्त चेतना उसके अंग-प्रत्यंग में व्याप्त हो जाती है। फिर भी यह साधन-पथ, अनन्त पथ तभी सुगमता व आनन्द से तय हो पाता है, जबकि सद्गुरु का हाथ साधक के मस्तक पर रहता है, क्योंकि किसी ने सत्य ही कहा है कि- ''तकला मानव मन का प्रतीक है जो बार-बार झोल खाता है, लोहार सद्गुरू है जो मन को राह पर डालता है।''

इसी कारण साधना क्रिया होते हुए भी बन्धन से परे मुक्ति की दायिनी होती है। साधक साधना करते हुए भी मुक्ति एवं चिरन्तन आनन्द की ओर अग्रसर होता जाता है। वह तो बस एक ऐसी अनोखी मस्ती की रहनी में रहने लगता है कि:-

गर हाट बता दी तो, वो जा हाट में सोये,
गर बाट बता दी तो, वो जा बाट में सोये।
गर खाट बता दी तो, वह खाट में ख़ुश हैं,
पूरे हैं वही मर्द जो, हर हाल में ख़ुश हैं॥

■ धोखे या खुशामद से मुझसे ले लेने का Credit भी अभ्यासी को ही है, क्योंकि ईश्वर का प्रसाद माँग कर खाया या चुराकर खाया, लाभ का Credit तो उसे ही हुआ। किन्तु base वह स्वयं होता है।

■ Submission अभ्यासी को Vaccum बनाता है और ख़ाली जगह में चीज़ स्वयं भरने लगती है। यही मजबूरी मुझे मजबूर कर देती है अभ्यासी को शीघ्र बढ़ाने के लिये।

■ वह फ़क़ीर ही क्या जिसने शान्ति के लिये अपने आपको सहूलियत पर रक्खा।

- श्री बाबूजी

*

प्रीति की रीति

''दिल में दर्द पैदा करो बेटी।''

''यह कैसे हो बाबा?''

''बुद्धि में पागलपन उत्पन्न होने से।''

''कैसे करूँ बाबा? पागल होना क्या अपने हाथ में है?''

बाबा मुस्कुरा उठे।

''बेटी! सच है, पागलपन उत्पन्न होना, यह अपने हाथ में नहीं है। यह तो ईश्वर की प्रीति का प्रतिफल (Reaction) होता है, जो भाग्यवानों को ही प्राप्त होता है।''

''परन्तु बाबा! प्रीति करना तो बुरी बात है। इसमें तो रहा सहा अपना चैन भी चला जाता है। किसी ने कहा भी है- प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।'' बाबा बड़बड़ाये- ''हाँ, प्रीति करना सचमुच ही बुरा है किन्तु प्रीति हो जाना अच्छा है। चैन चला जाना अच्छा है बेटी! किन्तु चैन खोना अच्छाई नहीं।'' ''तुम तो उल्टी उल्टी बातें बताते हो बाबा! भला सीधी सी बात करो न।'' ''सीधी सी बात है बेटी! दिल में दर्द पैदा करो।''

''तो बाबा, दर्द तो तब पैदा हो, जब चोट लगे। बिना चोट के कहीं दर्द होता है बाबा?''

''चोट! चोट तो बेटी, प्रतिक्षण लग रही है। जरा आँख खोलकर देखो न।''

''कहाँ बाबा? चोट कहाँ है? मुझे तो दिखाई नहीं पड़ती; कहीं निशान भी तो नहीं है।''

''निशान है बेटी, जरा आँख खोलकर भीतर देखो। सारा हृदय तो निशानों (संस्कारों) से भरा पड़ा है।''

न जाने क्यों अब बाबा की वाणी सुन-सुन कर बेटी का रंग बदल रहा था। आँखें कुछ झपकने पर भी उसे कुछ दिखलाई पड़ रहा था। वह हृदय में हल्की

टीस सी अनुभव कर रही थी। पता नहीं, बाबा की वाणी में से ही टीस सी निकलकर उसके हृदय में कुछ दर्द पैदा कर रही थी। वह हृदय थामें बैठी रही। फिर एकाएक विचार आया कि कहीं उसे प्रीति तो नहीं हुई जा रही है। न जाने क्यों प्रीति से उसके हृदय में एक अनोखा भय जो था। वह बड़बड़ाई- ''प्रीति तो मैं नहीं करूँगी।''

*　　*　　*　　*　　*　　*

बाबा चले गये, वह भी घर गई। नित्य का जीवन क्रम सुचारू रूप से चलने लगा।

वह अविवाहित थी। क्यों?

उसे प्रीति जो नहीं करनी थी। कुछ भय था। दिन भर काम काज करती, खाना बनाती, नाश्ता तैयार करती। माता-पिता प्रसन्न थे। भाई, बहन, संगी, साथियों के साथ मस्त रहती थी। हँसते खेलते, खाते दिन व्यतीत हो रहे थे। भाई-बहनों में क्रिकेट होता, वह भी फील्डिंग करती। लुका, छिपऊअर तथा कबड्डी आदि सब खेलों में सब के संग रहती। पूजा में अवश्य उसकी बचपन से रूचि थी, परन्तु प्रीति में नहीं। ठाकुर जी पूजती, घंटो आरती, पूजा, अर्चन, वन्दना में व्यतीत करती। रामायण तथा गीता उसके प्रिय ग्रन्थ थे। पाठ होते, कीर्तन होते वह भी सबमें भाग लेती। आपस में भाई, बहिनों की लड़ाई में भी उसे शौक था, किन्तु स्थाई रखने का नहीं। नौकरों के बच्चों से भी दुलार था, तभी तो वे वह रास्ता देखा करते कि कब बिटिया कहीं चले तो उन्हें पैसे मिलें। उसकी प्रकृति तो क्या थी, तमाशा थी। कभी गम्भीर, कभी आनन्दमयी, हाँ मात्रा में कमी और अधिकता अवश्य थी। गायन-वादन में भी चाव था। किन्तु यह सब .... ।

बाबा न जाने कहाँ से आकर उसके हृदय में कुछ कर गया। तभी तो बेचारी न जाने क्यों अब बहुधा एकान्त में हृदय पकड़ कर रह जाती। कदाचित् वह उसके हृदय में कहीं अलौकिक चोट तो नहीं कर गया? किन्तु ऊपर से तो कुछ दीखता न था, जो बेचारी कुछ औषधि लगाकर, कुछ लेप ही लगाकर ठीक कर लेती। यही क्रम चल रहा था कि खेलती-खाती, काम-काज सब करती, किन्तु अब व्यस्त नहीं होती, क्योंकि टीसन उसका ध्यान उचाट कर देती और बीच-बीच में भागकर कमरे में हाय कर आती। और उस चोट को पालने के ही लिये दो-ढाई घंटे दर्द के ध्यान में भी बैठ आती।

क्रमश: बरबशता बढ़ी, क्योंकि चोट में अब दर्द जो होने लगा था और दर्द भी ऐसा कि दवा करने से बढ़ता और दवा भी बेचारी के पास क्या थी? वही ध्यान, जो कम से कम उस समय तो चैन दे ही देता।

*　　*　　*　　*　　*　　*

बाबा भी अनोखा था। शरीर क्या था, मानों ढाँचा मात्र था। स्वास्थ्य रक्षा की पुस्तक पढ़ने वालों के लिये उसका एक-एक अंग सहायक हो सकता था, क्योंकि एक-एक हड्डी सरलता से गिनी जा सकती थी। माँस की जगह तो मानों ईश्वरीय ज्ञान कूट-कूट कर भरा हुआ था। नेत्र क्या थे, मानों ध्यान-रत रहते-रहते अपना अस्तित्व ही भूल चुके थे। सुरत कहीं दूर इस संसार से परे अंतरिक्ष को भी भेद कर न जाने कहाँ जा बसी थी। ऐसा लगता था कि वह संसार में रहते भी उससे परे ही कहीं विचरण करता। कहने को वह भू पर था, किन्तु यथार्थ तो यह था कि भू उसके आश्रित थी और वह भूपति था। उसके आते ही वातावरण में वह महक बरस जाती, जिसे सूँघने के लिये सम्भव है, बड़े-बड़े ऋषि महात्मा तड़पते ही चले गये हों। उसके पास बैठने पर सब दुख-दर्द भूलकर मानव अपने से ऊपर, बहुत ऊपर पहुंच कर निर्मल रस का रसास्वादन कर पाता था। किन्तु इसे देखे कौन? पहिचाने कौन? जब सब अपने में ही व्यस्त थे। और वह?

वह तो कहता था- ''हँसी खेल नहिं पाइयां, जिन पाया तिन रोय।'' फिर कौन समझता।

*　　*　　*　　*　　*　　*

एक दिन न जाने कहाँ से घूमता फिरता फिर आ गया बाबा और उसी के द्वार पर आवाज़ लगाई- ''बिटिया''

वह दौड़ी आई- प्रणाम किया।

''बैठो न बाबा।''

बाबा बैठ गये। उन्हें उसके घर में भी अब कुछ सुगन्ध सी लगने लगी थी। वह महक जो उन्हें प्यारी थी।

''भूख लगी है माताजी''- बाबा बोल उठे।

अम्मा दौड़ी- क्योंकि न जाने कैसे बाबा के प्रति उनका वात्सल्य जो उमड़ पड़ा था। कुछ नहीं, साधारण सा ही भोजन पाया 'उन्होंने', किन्तु बड़ी प्रसन्नता

से और एक-एक वस्तु को बड़े उल्लास से, सराह कर। फिर बोले- ''क्या दर्द होता है बेटी?''

''कहाँ बाबा?'' दुनियाँ के नेत्रों में वह धूल झोंक सकती थी, किन्तु अपने 'बाबा' को नहीं। उसके नेत्र झुक गये। अपराधी थे बेचारे न। बाबा भी समझ गये। प्रसन्नता से उनका उद्दीप्त मुख और आलोकित हो उठा।

''बाबा का कुछ काम करेगी बेटी?''

''हाँ! कहिये न बाबा।'' वह नाहीं नहीं कर सकती, क्योंकि बाबा उसे न जाने क्यों बहुत अच्छे लगते थे और उसे ऐसा लगा कि मानों बोलने के साथ ही साथ बाबा ने काम के लिये उसे शक्ति प्रदान कर दी थी। फिर भी उसने कहा-

''किन्तु मुझमें शक्ति कहां?''

''क्या काम के लिये शक्ति चाहिये बेटी? जरा सोचो। केवल लगन चाहिये''

''अच्छा, तो लगन कहाँ से पाऊँ, यह तो बताओ?''

''विचार करो बेटी, तो वह तुम्हारे समीप हृदय में ही मिलेगी।''

''देख लिया बाबा। समझ लिया। अब जो कहिये वह मुझसे दूर नहीं।

''और प्रीति?''

वह लजा गई। उसे स्मरण आया- ''मैं प्रीति नहीं करूँगी।''- उसने कहा था।

''कहाँ बाबा, मैं भला प्रीति क्या जानूँ?''- बाबा मुस्कुराये। ''अब होशियार हो चली है बिटिया मेरी।'' वह बड़बड़ाये।

''ऐसी प्रीति सराहिये, जा में ना पहिचान।

रही प्रीति की प्रीति वह, और नहीं कुछ हानि॥''

*   *   *   *   *   *

''क्या चैन चला गया बेटी?''

वह तुनुक कर बोली- ''हाँ, चला गया बाबा! और मिल भी गया बाबा।''

''सो कैसे?''

उसके नेत्र बाबा के मुख पर टिके थे और बाबा विभोर थे।

"अनोखी प्रीति की रीति थी"।

-वह क्या समझती और कैसे समझाती बेचारी।

नोट:-

बेटी	-	मैं
बाबा	-	बाबू जी
बाबा द्वारा दी गई चोट	-	ईश्वर का प्रेम
दवा	-	सहज-मार्ग साधना-ध्यान
चैन जाना	-	तड़प का पैदा हो जाना।

*

- न बाग़ में बहार है, न आने की आशा है, फिर भी किसी का इंतजार है। यही फ़नाइयत की हालत है।
- Negation की हालत असलियत में किसी बेहद की begining है।
- जब ईश्वर-प्राप्ति की anxiety sub-concious-mind में पैदा हो जावे, तभी सच्ची भक्ति पैदा होना समझना चाहिये, क्योंकि anxiety sub-concious-mind में रहती है।

- श्री बाबूजी

अमर ज्योति

किसी ने द्वार थपथपाया। किन्तु उत्तर न मिला। एक बार-दो बार-तीन बार। किन्तु कोई उत्तर न मिला। हार कर बैठ गया और सुस्ताने लगा कि अन्दर से कुछ गुनगुनाहट सुनाई पड़ी कि- ''आओ प्रीतम् खोलो द्वार।''

स्वर मौन था किन्तु परिचित था। पुनः उठा और टहलने लगा। झाँक कर उसे देखने का प्रयत्न किया। चारों ओर से छिद्रों से खोज की। दर्शन के बिना अधीर जो था बेचारा। न जाने कब से बिछुड़े थे प्रियतम् और प्रियतमा। कितनी साध थी उससे मिलने की। कैसे-कैसे मंसूबे बाँध कर चला था बेचारा।

किन्तु यहाँ? दृश्य ही दूसरा था। वह बन्दिनी थी और कारागार के सीखचों में मुँह दिये खड़ी थी। किसी के आगमन की प्रतीक्षा में आँखें लाल थीं। मुख उदास था कि थपथपाहट सी सुन पड़ी। कान खड़े हो गये और मन की सारी एकाग्रता उसी थपथपाहट को एक बार पुनः सुन पाने की बाट जोहने लगी। देखते-देखते वह इतनी लीन हो गई कि उसे अपनी दशा का भान ही न रहा। क्योंकि चित्त की सारी वृत्तियाँ थप्पी के स्वर में प्रायः लय लीन सी हो चुकी थीं। अचानक स्वरों ने बरवशता की और वे मुख खोलकर उन सीखचों से टकराने लगे। स्वर क्या थे- पुजारिन की हृदय पुकार थी जो उस के हृदय को मथकर गूँज उठी थी- ''आओ प्रीतम् खोलो द्वार।''

पुजारिन की तल्लीनता भरी रागिनी ने कारागार केसातपर्दों में भी दरार कर दी थी और उसके द्वार पर खड़े प्रियतम् की थकान मिट चुकी थी और वह स्वस्थ होकर उसी द्वार पर मुँह लगाये खड़ा था। उनको अलग करने वाले थे कारागार के वे सप्त द्वार और उनको मिलाने वाली थी पुजारिन की एकमात्र तल्लीनता, जो उन लोहे के द्वारों में भी दरार कर चुकी थी।

एक अस्फुट ध्वनि उसके हृदय पर टकराई कि कहीं हमें कोई देख न ले। ऐसा हृदय में आते ही सहसा विचारों की लड़ी सी जुड़ गई। उसका जी घबराने लगा। वह भागकर, आँखें मूंदकर चारपाई पर पड़ रही। कुछ देर बाद ही उसकी आँखें झपकने लगी। विभिन्न विचारों की मानों लटें सी बँध कर उसके मुख पर बिखर गई।

वह भी खड़ा-खड़ा आहट लेता रहा, किन्तु मौन के साम्राज्य में और दूसरों की दृष्टि में पड़ने के भय ने उसे आहट मिलने का अवसर ही न दिया। वह लौट चला अपने स्थान को।

* * * * * *

प्रात: समीर मन्द-मन्द गति से बहने लगा था। ऊषा की किरणों में अरुणाई आने लगी थी। पक्षियों की सुमधुर चहक ने कोकिल कंठों को भी पराजित सा कर दिया था। पपीहा की पी कहाँ की रट ने कारागार की दीवारों के अंतर में प्रवेश करके हृद-तन्त्री के तारों में अस्थिरता सी उत्पन्न कर दी थी, जिससे अनजान में भी वही संगीत-लहरी बह निकली-''आओ प्रीतम् खोलो द्वार।''

सुन्दरी ने अँगड़ाई लेकर नेत्र खोल दिये मानों कमल की मुस्कुराहट ने मधु बिखेर दिया हो। न जाने क्यों उसे कुछ सूना-सूना सा लग रहा था।

अचानक किसी की चोट से व्यथित सी होकर अथवा किसी के स्मरण रूपी प्रहरी का स्वर पहिचानते ही वह व्यथित सी होकर उठ बैठी और टहलने लगी। नित्य कर्मों से निवृत्त होकर शीघ्रता से सीकचों पर जा लगी।

वह बन्दिनी जो थी। आह की गर्म श्वाँसों से उसने अनुभव किया कि वहाँ कोई पहले से ही उपस्थित था। उसके हृदय में उठते ज्वार-भाटे ने द्वार पर खड़े प्रियतम् को यह जता दिया था कि वह आ गई है और वह उपस्थित था।

वह युगों से बन्दिनी थी। माता, पिता, स्वजन, स्नेही उससे मिलने आते थे, किन्तु उस तक समाचार ही न पहुँचता था। उसने भी उन सब के मोह में पड़कर उन द्वारों को ममता-जनित शक्ति से तोड़ना चाहा था, जिसके फलस्वरुप वह एक दो, तीन, चार, पाँच, छ: करके अब सात द्वारों के भीतर कारागार में बन्द हो गई थी।

* * * * * *

आज से पाँच वर्ष पूर्व एक दिवस, नीचा सिर, उदास और भीगा मुख लिये बैठी थी। सुना कि कोई कह रही थी-''बन्दिनी, क्या मुक्त होना चाहती हो?''

''हाँ'' एक आशा और निराशा मिश्रित स्वर था।

''क्यों?''

''अपने देश जाऊँगी।''

"वहाँ तुम्हारे कौन-कौन हैं?"

"माता हैं, पिता हैं, स्वजन, सम्बन्धी सभी का तो दुलार है।"

"और?"

मुख लज्जा के आवरण से ढँक गया। वह चुप हो रही।

युवती ने वह लाज का आवरण उसके मुख पर से हटाया तो हठात् उसके मुख से निकल ही तो पड़ा- "प्रियतम्!"

"तो फिर उससे ही क्यों नहीं कहती कि तुझे इस कारागार से निकालकर देश ले जाये?"

बस तभी से बेचारी वन्दिनी सीखचों में मुख दिये अपने "प्रीतम्" को बुलाया करती है-"आओ प्रीतम् खोलो द्वार"। और सच ही तो उसकी आह से खिंचा प्रीतम उसके द्वार पर खड़ा था।

* * * * * *

यह क्रम बहुत दिनों तक चलता रहा कि सबेरे-शाम सीकचों में मुख देकर उसका खड़ी हो जाना और द्वार पर अपनी पुकार होने से पहले ही किसी का उपस्थित रहना और नि:स्तब्धता में भी बार-बार द्वार थपथपाना। उससे विरह सहा नहीं जाता था।

प्रयास निष्फल नहीं जाते। बहुत दिनों तक रस्सी की रगड़ से पत्थर में भी लकीर बन जाती है। प्रयत्न करने पर चन्दन में से भी अग्नि उत्पन्न हो जाती है। फिर हृदय तो हृदय ही है।

वह बेचैन था और वह तड़पती थी। अश्रुओं की धार ने लोहे के द्वारों की नीव को भी शिथिल कर दिया था। अंतर-पट झीने पड़ने लगे। विरहिणी का प्रकाश विरही तक पहुँचने लगा और उसकी छाया उसमें स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगी।

दोनों ने दोनों को पहिचान लिया। विरहिणी केवल विरहिणी नहीं, किन्तु सुहागिन बन चुकी थी। पवित्र आनन्द का स्रोत उसके हृदय में फूट चुका था, जो उसके हृदय के उफनते हुए समुद्र पर भी कगार बना चुका था।

वह मस्त थी। मर कर भी जीवन पा चुकी थी। उसकी ज्योति अमर हो चुकी थी।

क्यों?

क्योंकि वह (प्रियतम) अमर जो था।

और वह?

वह उसकी ज्योति जो थी।

नोट:-

इस कहानी में प्रयोग किये गये प्रतीक निम्नांकित हैं:-

प्रियतम, अमर	:	परमात्मा
बन्दिनी, ज्योति	:	जीवात्मा
कारागार और उसके सप्तद्वार	:	अहंता (Egoism)
प्रियतम को पुकारने की सलाह देने वाली	:	सहज-मार्ग-साधना

*

- सहज–समाधि की हालत को Negation की तिलमिलाहट कहना ठीक है। State of Moderation भी Fit शब्द है। सहज–समाधि में समझ रहती है, Negation में समझ नहीं रहती है।
- हम तो सेवा भाव लिये हुए हैं, इसलिये लोग हम पर नाराज़ भी हो सकते हैं क्योंकि सेवक पर नाराज़ होने का हक़ सबको है।

- श्री बाबूजी

जिन खोजा तिन पाइयाँ

कैसी अटपटी बात एवं अटल दीवानापन है किन्तु उक्त कथन की यथार्थता को तो हमें स्वीकार करना ही होगा। कहते हैं, एक बार सूफी सन्त शिबली हाथ में दोनों ओर जलती लकड़ी लेकर दौड़े। लोगों ने कहा, कहाँ चले? बोले- जन्नत और दोज़ख दोनों को जला दूँ, ताकि जन्नत की चाह से या दोज़ख के डर से कोई ख़ुदा को न याद करे। ख़ुदा को याद करें सब ख़ुदा के लिये। बात कितनी गम्भीर किन्तु स्पष्ट है, कि हम केवल 'उसको' उसी के लिये ही चाहें, जो सदा-सदा के लिये हमसे मिलने को हमारी बाट जोह रहा है। हमें अपने में छिपा लेने के लिये अधीर वह, हमें पुनः पुनः संकेत देता है कि- ''जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ''। यद्यपि भक्ति की मधुरता में पैठे हुए साधक का तो सर्वथा यह मानना ही है कि ''जिन खोजा तिन पाइयाँ।'' किन्तु सहज मार्ग में भक्ति रूपी सागर की गम्भीरता में पैठे हुए योगी (बाबूजी) का कथन तो अनोखा ही है और अपना यह अनोखा किन्तु चोखा अनुभव भी है कि ''जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ''। सत्य यही है कि सबसे मुख्य एवं गम्भीर तो हमारा अपना हृदय ही है। सहज मार्ग में हृदय की सैर का ही विस्तार सबसे विस्तृत है। हृदय की सैर की समाप्ति होते ही योगी को सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है, परन्तु इष्ट अथवा लक्ष्य की नहीं, उसके लिये तो उसे अभी और चलते ही चले जाना है। मन रूपी सागर से ही नेत्रों को बिन्दु मिलते हैं, इसलिये मन की स्थिति का ज्ञान एवं साधक की रहनी के स्थान का पता भी सबसे अधिक उसकी आंतरिक दृष्टि द्वारा ही मिलता है। हृदय की गहनता में खो जाने वाले नेत्र ही हैं। बिना आंतरिक दृष्टि के अंतर के मोती खोज पाना असम्भव है। सूक्ष्म से सूक्ष्म एवं गुह्य से गुह्य मानसिक सरोवर में आंतरिक दृष्टि रूपी हंस किसी को खोजते-खोजते जब विलीन हो जाता है, तभी आत्मिक-गतियों के मोती चुग पाता है। तभी उसे मन रूपी दर्पण में अपने 'प्रिय' का मधुर एवं सम्मोहक दर्शन प्राप्त होता है एवं उसके अंतस् की रागिनी विह्वल और विस्मृत होकर पुकार उठती है कि ''दर, दीवार दर्पण भये, जित देखूँ तित तोय। काँकर, पाथर, ठीकरी, भये आरसी मोय''। एक दिन जब ऐसा आ जाता है कि 'हम' अपने विचार एवं दृष्टि सहित अंतर में पैठते-पैठते खुद को भी नितान्त खो बैठते हैं, तभी घट-घट

वासी, सर्व अंतर्यामी सद्‌गुरु श्री बाबूजी हमें ईश्वर का साक्षात्कार प्रदान करते हैं- ईश्वरीय गति देकर।

ऐसा होना तो सत्य एवं सरल भी है, क्योंकि मनुष्य का मन अभ्यास का दास है। जिसप्रकार की स्थिति के हम आदी बन जाते हैं, उसमें ही आनन्द का अनुभव करने लगते हैं। यदि हमारे मन की वृत्ति संसार की ओर झुक जाती है, तो वैसे ही कार्यों की ओर हमें प्रेरित करती है, किन्तु सद्‌गुरू श्री बाबूजी की कृपा से यदि यह ईश्वर-प्राप्ति की ओर उन्मुख हो जाती है तो फिर कुछ करना-धरना सदैव के लिये समाप्त हो जाता है। यहाँ तो अपना एक अलौकिक क्षेत्र है, जिसमें क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ एक हो रहते हैं। कहते हैं कि जिसप्रकार नदी में पानी का सदा बहते रहना ही उसकी शोभा है, उसीप्रकार ईश्वरीय सहज मार्ग में बहते हुए साधक का निरंतर बहाव एवं सदा आगे देखना ही उसकी शोभा है। जिसप्रकार जल के श्रोत का बहाव बन्द होते ही उसके जल में दुर्गन्ध आने लगती है, उसीप्रकार आत्मिक-उन्नति में रुकावट आने लगी, पैर थमने लगे, तो उससे कोई न कोई अहंता रूपी दुर्गन्ध उत्पन्न होने की सम्भावना सदा बनी रहेगी। हाँ, समर्थ श्रीबाबूजी महाराज की अमोघ इच्छा शक्ति एवं प्राण शक्ति ऐसी चीज़ उत्पन्न होने का मार्ग सदा-सदा के लिये बन्द कर देती है। बाबूजी की तो यह सहज रीति है कि अपने बालक के हृदय को ऐसा सुदृढ़ बना देते हैं, जो उसे विचलित नहीं होने देती है। अपनी सरल, स्वाभाविक कृपा एवं वात्सल्य से उसके हृदय को लबालब कर देती है कि उसमें 'उसकी' ही महक के अतिरिक्त अन्य की गुंजाइश ही शेष नहीं रह जाती है क्योंकि उनकी सहज-मार्ग विद्या सजीव और तेजस्वी है। वास्तव में शिष्य के व्यक्तित्व का पौधा सद्‌गुरू के हृदय से 'उसकी' ही पावन इच्छा एवं प्राण शक्ति द्वारा अपना खाद्य प्राप्त करता है किन्तु बालक भी ऐसा हो जो बुद्धि में धैर्य, मन में उत्साह, और दृष्टि में दूरदर्शिता पूर्वक साधना में जुट पड़े, फिर सद्‌गुरू शक्ति द्वारा अंकित उनका परिश्रम एवं शक्ति द्वारा विचार, गति एवं चैतन्यता में हमें दिव्यता का आभास मिलता है जो सांसारिक उलझनों एवं संस्कारों से परे, अति परे होता है। उसकी कल्पना एवं अनुभव जागरूक होता है, थोथा नहीं। यद्यपि संवहन, विचार एवं अभिव्यक्ति हमारे अंतर में केवल यही ज्ञान देती हैं कि भावना किस प्रकार कार्य करती है, शब्द उसकी क्षमता में चार चाँद लगा देते हैं, किन्तु ईश्वरीय-कृपा उस पर जादू का कार्य करती है, उसे आध्यात्मिक पुरूष बना देने में।

भाई सत्य तो यही है कि मिट्टी से बने घड़े को सब घड़ा ही कहते हैं, मिट्टी नहीं। मिट्टी में आकार के भेद से एक विशेषता आ जाती है और विशेषता ग्रहण कर लेने के पश्चात ही वह दूसरा नाम पा जाती है। किन्तु जिन बड़भागी को दैविक शरीर रूपी घड़े की गहराई में खो पाने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है, उसके लिये फिर घड़ा, घड़ा नहीं रह जाता है वरन् उसे मिट्टी का ही पता मिल जाता है, और तब, मिट्टी, मिट्टी में मिल जाती है। ऐसा हो पाना सरल एवं सम्भव तभी हो पाता है, जब हम अपने हृदय रूपी महासागर को अनन्य प्रेम एवं सतत् स्मरण द्वारा अपने प्रियतम् के हृदयरुपी महासागर में उड़ेल देते हैं, तभी अधीर मन बरबश पुकार उठता है-

"उत सावन इत नैन हैं, उत गरजत इत आह।
उतहिं कूक, इत हूक है, सकहु तो लेहु बचाय॥"

परन्तु ऐसा पुकारते-पुकारते ही वह खोज अपने परम प्रिय प्रभु श्री बाबूजी के प्रेम रूपी अथाह सागर में सदा-सदा के लिये विलीन हो जाती है और तब अभ्यासी स्वयं तो बेहोश रहता है, किन्तु वात्सल्यमय सद्‌गुरू 'श्री बाबूजी' रुपी जननी उस बेहोशी में भी उसे एक ऐसा होश देते हैं, जिसका पता उसे शरीर में कुछ चोट इत्यादि लगने पर एक क्षण को ही मिल पाता है। वह बेलौस रहता है, परन्तु ममतामयी जननी उस बेलौसी की दशा में भी उसके अंतर में एक कसक उत्पन्न कर देती है, जो उसे इस बात का पता देती है कि अभी उसे आगे चलते जाना है। उसकी खोज रूपी खोली में उसकी यह मूक फरियाद घर कर जाती है कि:-

"बल न छुटे तेरे बालों से, और नै से फरियाद।
पल भर मणि न छुटे काले से, मुझसे तेरी याद॥"

जो हमको उस दशा का ही संकेत देती है कि "जिन खोजा तिन पाइयाँ" किन्तु जैसे बिना संघर्ष के संग्राम असम्भव है और संग्राम के बिना हर्ष, अथवा जय उसी प्रकार साधना में अपनी मानसिक रहनी में जब हम संयम का संघर्ष देते रहते हैं, तभी अपने सहज मार्ग रूपी अभ्यास में हम खोये खोये भी जागते रहते हैं और विश्व में जागते रहने पर भी हमें जागने का होश नहीं आता है। खोये खोये हुए भी हम कुछ पाते रहते हैं, किन्तु उस पाने के पावना और पाने वाले एवं उस अनन्त दाता का भी पता नहीं मिल पाता है।

वास्तव में साधक का संयम तो हर दशा में, हर समय एकमात्र अपने प्रिय इष्ट की प्राप्ति के लिये सतत् प्रयत्न करना होता है। किन्तु भाई, यह संघर्ष होते

हुए भी इसमें अथाह शान्ति एवं अनवरत् आनन्द प्राप्ति का सागर लहराता है। यह पावन एवं मूक अभ्यास तब तक शान्त नहीं होता है, जब तक साधक को उसके इष्ट लक्ष्य में विलीन अथवा खो नहीं देता है तब तक चैन नहीं लेने देता है। उसका खो जाना भी उसी परम शान्ति, शाश्वत् एवं सतत् एकरस का द्योतक है, जिसमें साधक मरा-मरा भी जी उठता है, खोया हुआ कभी न आने वाला होश पा लेता है। होश एवं याद का भेद भी हमारे 'श्री बाबूजी महाराज' के सुन्दर शब्दों में यही है कि याद जो कभी न आवे। हम यह कह सकते हैं कि यदि भेद की बात हमारे मन में है तो यह क्यों कर सम्भव हो सकता है कि हमें उसका स्मरण न आवे। यह सत्य है, किन्तु पुनः पुनः विचार एवं अपने 'श्री बाबूजी महाराज' की कृपा मिलते हुए, पाने का हमें होश न आवे तो अपने 'मालिक' का पता कैसे मिल सकता है। इस भेद को अभेद बना देने वाली, उघार (स्पष्ट कर) देने वाली चीज़ प्रेम है, जो हमें निज को खो देने के लिये विवश कर देती है, एवं हमें यह कहने को मजबूर कर देती है कि संसार से हम नहीं जाते, हमीं चली जाती है, तपस्वी नहीं जाते किन्तु तपस्या की आवश्यकता चली जाती है। अपने इष्ट में तन्मयता ही इसका तथ्य है और साधना की जीवन-शक्ति भी वास्तव में यही है कि "जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ"।

कहते हैं कि जिसप्रकार झरना एक ही समय में कड़वा और मीठा पानी नहीं दे सकता, उसीप्रकार मनुष्य के मन, एवं इच्छाओं में लौकिक एवं पारलौकिक आनन्द के विकास का समन्वय नहीं हो सकता है। उसके लिये तो संसार भी ईश्वर मय होकर ही सुखदायी बन जाता है। थोड़ा सा क्लोरोफार्म लेकर मनुष्य अपनी सारी पीड़ा एवं कष्टों से मुक्ति पाकर कुछ घंटों के लिये अचेत प्रायः हो जाता है, किन्तु प्रियतम् परमात्मा की प्रिय रूप-माधुरी का पान कर साधक का अंतर्मन चिरंतनकाल के लिये अनन्त-अचेतन् अवस्था में खो जाता है। कैसा अलौकिक जीवन उनका होता है, जिन्हें यह पता नहीं "को मैं? चलऊँ कहाँ, नहिं बूझा"। जिन्हें यह होश नहीं कि उनका पेट भरा हुआ है या खाली है, वे पापी हैं या सदाचारी हैं। ऐसे अभ्यासी का होश एवं उन बड़भागी के जीवन की बागडोर सदा-सदा के लिये 'समर्थ सद्गुरू', रूपी ममतामयी जननी श्रीबाबूजी सँभाल लेते हैं और बदले में दैविक अनन्त चेतना उसके अंग-प्रत्यंग में भर देते हैं। यही कारण है कि संकल्प एवं अभ्यास में प्राण सींचने पर भी, जीवन से बेलौस होते हुए भी उनके प्राणों में ताज़गी रहती है। कहते हैं कि जब तक हमारी दृष्टि में जीव रहता है, तब तक आत्मा का ख़्याल हमारे सामने रहता है, किन्तु जब धागे के दोनों छोर

मिलकर एक हो जाते हैं, तब न उसका कोई ओर होता है न छोर होता है। फिर तो एक हो जाता है, जो अंतर में होता है वही बाहर व्याप्त होता है एवं जो सामने होता है, वही अंतर में प्रत्यक्ष रहता है।

अब यदि कोई हमसे प्रश्न करें कि हम खो कैसे जायें? इस विषय में मुझे अपने परम पूज्य एवं जीवन के परम् सर्वस्व 'श्री बाबूजी' का कितना सत्य एवं सजीव कथन स्मरण है कि- ''अल्लाह मियाँ के पास जो कुछ था, सब सृष्टि-रचना में दे बैठे और खुद दिवालिया बन बैठे। अब हमें अगर एक दिवालिये की तलाश करनी है,तो हमें वैसा ही बन जाना होगा''। साधना की पराकाष्ठा एवं भक्ति की श्रेष्ठता एवं परिपक्वता भी यही है कि जिसकी हमें खोज है, उसकी तलाश में हम ख़ुद को ही खो दें तब 'वह' दूर नहीं है। वास्तव में वेदानुकूल-जीवन भी वही कहा जा सकता है कि जिस जीवन में हम अपने प्रिय सर्वेश्वर के सतत् स्मरण द्वारा उसकी प्राण शक्ति के प्रवाह में खो जायें, यही है सच्चा जीवन।

वास्तव में कहा तो यही जा सकता है कि खोज तो किसी खोई हुई वस्तु को पाने की ही की जा सकती है, किन्तु जो हमारे उर-अंतर में सदा-सदा से ही निवास कर रहा है, उसमें तो हमारा स्वयं खो जाना ही, विलीन हो जाना ही शेष रह जाता है। वैसे आध्यात्मिकता का महासागर तो इतना विशाल एवं अथाह है कि उसमें जीवन भर गोते लगाने के बाद भी कुछ थोड़े से माणिक-मोती ही हाथ लग पाते हैं। एकनिष्ठ उपासना द्वारा धरा और मेरू को दोलायमान करने की शक्ति आ सकती है, किन्तु घटघटवासी 'ईश्वर' का साक्षात्कार कर पाने के लिये ईश्वरीय कृपा एवं ईश्वरीय शक्ति के प्रवाह में स्वतः को विस्मृत कर पाने की आवश्यकता होती है। आध्यात्मिक क्षेत्र में आज सहज मार्ग ही हमें सच्चे प्यार का पता देता है। सद्‌गुरु वह चुम्बक है, जो अपने बालक के मन में लगी ब्रह्म विद्या की प्राप्ति में बाधक कीलों को घसीट कर बाहर फेंक देता है। मन एवं बुद्धि से आत्मिक उन्नति में बाधक कीलों एवं काँटों के स्वच्छ हो जाने पर 'सहज मार्ग' में सुलभ अपार सरलता, मृदुता एवं हल्केपन का अनुभव होता है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में खोज एक निरंतर तपस्या एवं सतत् साधना है जिसका परिणाम ईश्वर प्राप्ति की खोज में अपने को खो देना अथवा लय कर देना होता है। भौतिक जीवन के लिये खोज उस रूप में ही सिद्धिदायक होती है। किन्तु आत्मिक स्थितियों के अनुभव की रमणीयता, रससिक्तता एवं लालित्य शाब्दिक सीमा से परे है। जहाँ अनुभव में पवित्रता का अविराम क्षेत्र भी समाहित होकर

समान रूप में प्रवाहित रहता है, वहीं साधक का मौन किन्तु स्पष्ट अन्तर-स्वर सुनाई पड़ता है कि- ''जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ''। सहज-मार्ग के विस्तृत आध्यात्मिक क्षेत्र में खोज का आरम्भ वहीं से होता है, जहाँ नेत्र धुँधले पड़ जाते हैं, खोज स्पष्ट वहीं पर होती है जहाँ जिह्वा मौन हो जाती है, शब्द बिखर जाते हैं और तूलिका सदा-सदा के लिये विराम ले लेती है। किन्तु स्वयं को खो देना अथवा लय हो जाना वहीं पर स्पष्ट हो पाता है, जबकि हमारे इस अनुभव की चैतन्यता भी अवकाश ग्रहण कर अपने 'चैतन्य' ईश्वर में ही सदा सदा के लिए प्रवेश पा जाती है एवं विचारधारा भी अपने ''चैतन्य'' में ही निहित हो रहती है। किसी का यह कथन कितना सत्य है कि-

''बेखुदी छा जाये ऐसी, दिल से मिट जाये ख़ुदी।
'उसके' मिलने का तरीका, अपने खो जाने में है॥''

*

■ अवतार के मन (Mind) होता है, किन्तु उसके संस्कार नहीं बनते हैं। Mind का होना लाज़मी है क्योंकि वह विशेष काम के लिये संसार में आता है। संस्कार इसलिये नहीं बनते हैं क्योंकि वह एक खास जगह की फ़नाइयत लिये आता है और अंत में जाकर उसी में लय हो जाता है। यदि फ़नाइत है तो संस्कार नहीं बनते क्योंकि वह तो काम करता हुआ भी अपने स्थान में लय रहता है, जहाँ से कि वह आता है।

- श्री बाबूजी

*

भावना

कहते हैं कि जैसा मनुष्य होता है, जैसी उसकी प्रतिभा होती है वैसा ही उसका व्यक्तित्व होता है। जैसी मनुष्य की भावना होती है, वैसा ही उसका व्यक्तित्व दर्शित होता है। किसी महापुरुष के व्यक्तित्व और आचरण को अपना पाने का प्रयत्न करने वाले को महापुरुष कहा जाता है, किन्तु परम प्रिय 'मालिक' ईश्वर को सम्पूर्णतय: अपनाने का सतत् प्रयत्न करने वाले को साधक कहते हैं। इससे पृथक, इससे भिन्न इसके अतिरिक्त साधक का कोई दूसरा रूप हो ही नहीं सकता है। अपने प्रत्येक कार्यों एवं रहनी के प्रत्येक आचरण में प्रियतम ईश्वर अथवा सद्गुरू का पावन एवं दैविक सामीप्य ग्रहण करने की भावना को ही समर्पण कहते हैं। प्रत्येक कार्य, कारण एवं विचार-सरनी एवं रहनी में कर्त्ता के स्थान पर 'मैं' का भाव होना ही बन्धन का कारण बन जाता है। इसके विपरीत यदि कर्त्ता के स्थान पर भावों के श्रोत में एकमात्र खोज एवं मिलन का लक्ष्य सद्गुरू अथवा ईश्वर प्राप्ति ही हो जाता है, तो वही समर्पण हो जाता है, जो मुक्ति का कारण बन जाता है।

किन्तु ऐसी उद्धारमयी वह कौन सी एक भावना है, जो साधन काल में हमें पग पग पर सहायता देती है, जो समक्ष में विस्तृत, विशाल आध्यात्मिक क्षेत्र में सरस एवं पावन ईश्वरीय धारा से हमारे वाह्य एवं अन्तर सबको ही पखार जाती है, जिससे साधक के मन की प्रत्येक गति, मति एवं रति सबका रूख केवल ऐसी ही भावना की ओर उन्मुख हो रहता है कि ''मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई रे''। तब जो कुछ भी होता है उस प्रियतम् की प्रसन्नता के निमित्त ही होता है।'' यही वह एक सद्गुरुमई ईश्वरीय-भावना है जो साधक को ईश्वर से सम्बन्धित कर 'उस मय' ही बना देती है। ऐसे ही उद्धारमई प्रेम भाव द्वारा संजोई गई यह 'ईश्वरमयी भावना अत्यन्त उदार एवं सरल होती है। अपने अतिरिक्त अपने हृदय के अत्यन्त 'प्रिय' को ही समक्ष में रखना वास्तविक साधना है और इससे सरल उपाय दूसरा नहीं हो सकता है।

अपने प्रत्येक विचार कार्य एवं भावों को अपने इष्ट अथवा लक्ष्य में ही समाहित करते रहने पर ही हृदय में ऐसी उदार भावना का जन्म होता है, फलत: प्रत्येक कार्य एवं विचार अपने लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति में स्वत: ही समाहित होने लगता

है, अन्यत्र भटकता ही नहीं। निरन्तर मानसिक समर्पण की ऐसी भावना द्वारा वाह्य वृत्तियाँ स्वत: ही अन्तर्मुखी होने लगती हैं, तब ऐसी भावना में परिपक्वता का समावेश होता है एवं अन्तर्मन में सहज ही समाधिस्थ अवस्था प्रवेश पाने लगती है। वाह्य मन जब विचारों, भावों अथवा रहनी को, प्रियतम मालिक के लिए अन्तर्मन से समर्पण करता हुआ समर्थ हो जाता है, तब फिर अन्तर में एक दिव्य परिपक्वता का समावेश होता है। जब भावना में वास्तविकता जागरुक हो जाती है तब भावना मानों साकार हो उठती है। परिणाम स्वरुप तब साधक का वाह्य एवं अन्तर सरस, सलोनी एवं दिव्य लय अवस्था का मानों प्रतीक हो जाता है, जो आध्यात्मिकता का प्राण है। प्रियतम इष्ट के रंग में ही पूर्णतय: रंग जाना एवं पूर्ण रुपेण 'उसके' ध्यान में समा जाना ही लय अवस्था है। तब साधक के लिये केवल इतना ही शेष रह जाता है कि वह 'मालिक' के ध्यान में गहरा पैठता जावे एवं श्रेष्ठ आध्यात्मिक गतियों के रत्न चुगता जावे। तब वह धोखा नहीं खाता। उसके समक्ष दूध का दूध एवं पानी का पानी हो जाता है। उसकी अन्तर्दृष्टि में सद्‌गुरु की सतत् पावन प्राण शक्ति द्वारा वह दिव्य दृष्टि समा जाती है, जो उसे आगे का मार्ग दर्शाती है। भला सोचिये तो एक छोटी सी ईश्वरीय किन्तु श्रेष्ठ भावना ने जन्म-जन्मान्तरों का काम चन्द दिनों में ही सुलझा कर रख दिया। सदाचार में समावेश, आचरण में दृढ़ता, वाणी में मधुरता एवं हृदय में अपनत्व का साम्राज्य लिये, उसका समस्त के प्रति इतना ही मौन संदेशा रहता है कि:-

''उस असीम का सुन्दर मन्दिर, मेरा लघुतम जीवन रे।
मेरी श्वाँसें करती रहतीं, नित प्रिय का अभिनन्दन रे॥''

उस बेचारे समत्व योगी को प्रेम जीत लेता है, किन्तु वह समस्त के प्रति प्रेम को नहीं जीत पाता, क्योंकि तब सद्‌गुरु के हृदय रुपी महासागर में व्याप्त उस ज़ज़्बे में कि ''सब उन्नति करें एवं सभी ईश्वर को प्राप्त करें'' साधक भी डूब जाता है। सद्‌गुरू श्रीबाबूजी रुपी जननी का आविर्भाव जगत् के प्राणियों के उद्धार के हेतु समस्त के प्रति स्नेह एवं समदर्शिता की भावना सहित ही पृथ्वी पर हुआ है। अवतार एक व्यापक एवं विशेष प्रकृति-कार्य के लिए धरणी पर अवतरित होते हैं। उनकी व्यापक कृपा दृष्टि विशेष रुप से अपने कार्य के लिये सतर्क रहती है। उसके कार्य अथवा लीला में सहयोग देने वाले बड़भागियों पर अवश्य ही उसकी अति कृपा होती है। वह अपनी मर्यादामयी अपार शक्ति से जगत का उद्धार करता है। उसमें भावना नहीं वरन् प्रकृति कार्य ही प्रधान होता

है। श्रीबाबूजी की महाशक्ति से भरपूर एवं प्राणीमात्र के कल्याण की भावना उस मर्यादा का भी उल्लंघन कर अपने भूले-भटके बालकों को राह पर लाकर अनन्त एवं अगाध ईश्वरीय गतियां प्रदान कर उनका जीवन धन्य बना देती है। बालकों के प्रति जननी की कल्याण एवं स्नेह भावना एकप्रकार से एक नवीन एवं अलौकिक समर्पण की भावना का ही द्योतक होती है, जो प्रियतम 'सद्गुरु' के हृदय में पैठने पर ही हमारे समक्ष प्रत्यक्ष हो पाती है। यही कारण है कि जब कोई बड़भागी साधक श्रीबाबूजी में ऐसी उदार एवं व्यापक ईश्वरमयी भावना की प्रतिष्ठा कर लेता है, तो उसे उनकी उस उदार भावना, एवं व्यापक ज़ज़्बे एवं शक्ति का बड़ा सुदृढ़ सम्बल मिल जाता है। इसी कारण आध्यात्मिक क्षेत्र में पग-पग पर उसे सफलता ही प्राप्त होती जाती है। निराशा अथवा असफलता उसके लिये कोष में लिखी ही नहीं जाती, क्योंकि वह तो परम प्रियतम् Divine की परम शक्ति से ही सम्बन्धित हो रहता है, जो निर्वाणदायिनी है एवं जिसकी गति अपरोक्ष है। तब ऐसा प्रतीत होता है कि उन दो अंतर नयनों की ज्योति किसी के आने की बाट जोहते-जोहते लौ बन चुकी है। बिना बाती के वे दो दीपक एक दिन उन के आगमन की ज्योति से जगमगा ही उठते हैं। सद्गुरु ऐसा दर्पण होता है, कि वह नयनों की डगरी से मन में पैठ कर दिल की नगरिया को लूटकर खुद ही उज्जवल हो जाता है। प्रत्यक्ष में वह नहीं उसकी कृपा ही रहती है।

आध्यात्मिकता एक महासागर है, जिसमें प्रत्येक भाव एवं भावना की एक मर्यादा होती है। सद्गुरू की पावन प्राण शक्ति द्वारा इस महासागर में पैरते-पैरते साधक की हर गति, मति, प्रेम, भक्ति एवं विश्वास एवं सारी दशायें एक दिन अपनी साम्य गति पर आकर उसी मर्यादा में मिलकर एक हो रहती है। उसके विशुद्ध परिणाम स्वरुप तब ईश्वरीय कृपा एवं देन का दैनिक एवं अलौकिक प्रवाह मिलना प्रारम्भ हो जाता है। स्थिति-प्रज्ञ हुआ वह अपने मालिक में ही खोया हुआ सर्व व्यापक गति में लय हुये प्रत्यक्ष फिरता है किन्तु यह सब कुछ सर्वमयी ईश्वरीय भावना का ही प्रतीक होता है। ऐसी सुदृढ़ भावना को प्राप्त करके ही भक्त प्रहलाद उस लौह स्तम्भ में से अपने प्रियतम् प्रभु का साक्षात्कार कर पाने में समर्थ हो सके थे। इसी विशुद्ध भावना ने ही भक्तिमती मीराबाई को विष को अमृत बना देने की शक्ति प्रदान की थी। भावना की ही ऐसी अटल गति ने भक्त ध्रुव को ध्रुवपद प्राप्त कर पाने की सामर्थ्य प्रदान की थी। प्रियतम् की प्राप्ति की सच्ची तड़प, भावना को साकार कर दिखाती है। संयम एवं सदाचार

साधक जीवन में गति प्रदान करते हैं। सदाचार के सुन्दर, सत्य एवं सहज नियमों को सुदृढ़ सर्वमयी ईश्वरीय भावना द्वारा ही हम अपने जीवन में उतार पाते हैं। वास्तव में प्रेम की लय-अवस्था को हृदय में संजोने में ही अभ्यासी की गरिमा है एवं उस गरिमा का सौन्दर्य है प्रियतम् पर अपने को लुटा देने वाली तड़प की प्राप्ति कर लेना।

यह सत्य है कि पूर्ण से पूर्ण एवं अथाह से अथाह की प्राप्ति की जा सकती है। साधना एवं ईश्वरीय भावना अथाह है जिससे अथाह ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सकता है। सहज मार्ग साधना एवं भावना से तत्क्षण मन की अवस्था बदलने लग जाती है। यह ऐसा जादू है जो सिर पर चढ़कर बोलता है। हाथ पर सरसो जमाना इसी को कहते हैं। इसीप्रकार एक ईश्वरीय भावना एवं सहज साधना द्वारा ही हमें आध्यात्मिक महासागर का किनारा मिल जाता है एवं उससे भी परे अनन्त के देश में भी रास्ते का ठिकाना मिलता जाता है।

सहज मार्ग में हम सभी साधक भाइयों एवं बहनों के अंतर में श्री बाबूजी की प्राणाहुति-शक्ति का प्रवाह पाकर ईश्वरमयी भावना स्वयं ही जागृत हो उठती है, परन्तु फिर भी हमें अपने को पग-पग पर सावधान रखना चाहिये कि कहीं अभ्यासी का अभ्यास कोरी भावना बनकर न रह जाय। आध्यात्मिक गतियों का अनुभव हम केवल अनुमान एवं सुनने पर ही न लगा बैठें वरन् हमें प्रतिक्षण अनुभव पाने के लिये सतर्क रहना चाहिए। इतना सा तो हमारा कर्त्तव्य भी है क्योंकि भाई सुन्दर सुकोमल पुष्पों के साथ ही काँटों का भी योग रहता है। सहज कोमल भावना का केवल वाह्य रुप अथवा गलत मोड़ ले लेने पर वह बजाय सुलझाने के हमें काँटों से बींध देने वाली बन जाती है। प्रत्येक भावना एवं दशा का सही कार्य एवं विशुद्ध परिणाम हमें तभी प्राप्त हो सकता है, जब की रुख अन्तर्मुखी हो एवं लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति हो। बहुधा ऐसा देखने में आया है कि जिह्वा कहती है कि:- ''अमुक कार्य सब भगवान् करेंगे'' किन्तु ऐसा कहते समय भी उनके हृदय में ऐसी भावना का कहीं निशान तक नहीं होता। सच तो यह है कि भक्ति के साथ-साथ हममें अपनी निरन्तर उन्नति की विह्वलता अत्यन्त आवश्यक है। यदि हमारे हृदय में 'प्रिय' से मिलने की तड़प ही न जगी तो फिर हम किसी की भावना एवं गति को अंतर में किसप्रकार पैठा रहने दे सकते हैं।

ईश्वर प्राप्ति के लिए हमें ऐसी सहज साधना को ही अपनाना चाहिये जो हमारे मन पर कर्त्ता का भाव न पड़ने दे। इसीप्रकार ऐसी रहनी का हमें सहज

रूप ही हृदयंगम करना चाहिये जो हमें लक्ष्य से जोड़ देने वाला हो और हम इस एहसास से भी अनजान ही रहें तभी उसमें सद्गुरू-शक्ति का सतत बल मिलता जाता है। साक्षात्कार पाने के लिये हम प्रतिक्षण बेचैन रहें, यदि ऐसी कुरेदना हमारे अन्तर में जागती है तो फिर हम ईश्वरीय साक्षात्कार पा जाते हैं? 'मालिक' से मिलने की तड़प ही हमें अंतर में समेट कर आध्यात्मिक ईश्वरीय गतियों की सैर के लिये तैयार करती है, तभी तो सांसारिक उत्सवों के मध्य भी हम अपने मन को दैविक रसपान करने में ही लय पाते हैं। पावन-ईश्वरीय-धारा रूपी अमृत रस को हृदय में सहेज लेने की सुधि भी नहीं रहती है। ईश्वरीय-मार्ग में केवल कथनी की कथरी लपेटे हुये हम अपने अंतर में 'उसकी' प्राप्ति की विह्वलता नहीं उतार पाते हैं जिससे सद्गुरु के इस उदार ज़ज़्बे में योग दे सकें कि जो हमें पुनः पुनः जागरण का संदेश देता है कि:-

"भूली मद में फिरै है, अरी बावरी बाम।
यह नैहर दिन दोय को, अंत कंत सौं काम॥"

वास्तव में अहंता रूपी ग्रन्थि का वह अन्तिम छोर हमारे हाथ लग जाता है, जहाँ से वह सहज ही खुलती जा सके। सहज सर्वमयी ईश्वरीय धारा का प्रवाह ही सद्गुरू की पावन प्राण शक्ति में हमें सरलता पूर्वक योग दे सकता है। समय अब यही पुकार रहा है-'सहज मार्ग' हमें यही आवाज़ लगा रहा है कि भोर की लाली आज हमें जागरण का संदेश दे रही है, किन्तु हमें ही जाग उठने में देरी लग रही है, जबकि पशु-पक्षी तक भोर का संदेश ग्रहण कर पाने के लिये नित्य समय से ही जाग उठते हैं। परन्तु हमें जागना होगा क्योंकि श्रीबाबूजी रुपी सद्गुरू की सर्वव्यापक कृपा एवं शक्ति हमें जाग उठने को मजबूर कर रही है। जिसप्रकार काले बादलों के आंगन में बिजली की एक कौंधन आकाश से लेकर पृथ्वी तक का अंधेरा दूर कर जाती है, उसी प्रकार सद्गुरू की कृपा शक्ति रुपी बिजली द्वारा ईश्वर प्राप्ति की तड़प रूपी कौंधन हृदय में उत्पन्न हो जाने पर अंतर एवं वाह्य तक का सारा अंधेरा दूर होकर हमारे कण-कण को ईश्वरीय प्रकाश से जगमगा जाता है। वास्तव में हमारा व्यवहार, हमारा आचरण तो वह दर्पण है, जिससे हमारा अंतर व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है। यदि हमें अपने भीतर शान्ति मिल गई तो सारा संसार हमें शान्त ही प्रतीत होता है, किन्तु जब प्रियतम के आह्वान की आहट पर हृदय रूपी प्रांगण में एक अपूर्व ज्योत्सना छिटक जाती है, तब मन का मधुबन एक दैविक मोहक मोहनी से पुलक उठता

है। सुरति प्रियतम् के आह्वान पर थिरक उठती है। अंतर स्वयं एक विश्वस्त प्रहरी सा बन बैठता है, वही हमारा वास्तविक रूप होता है अर्थात् आत्म-साक्षात्कार की दैविक स्थिति होती है।

तब ईश्वरीय तड़प का सेंक दुनिया में हमें एक ऐसी भोली, मासूम हालत पर ला खड़ा कर देता है, कि वह पुकार उठे कि माँ! मुझे भोजन दे, मुझे भूख लगी है और तभी वात्सल्यमयी सद्‌गुरू श्रीबाबूजी रूपी जननी का वात्सल्य पुलक उठता है और उनके वरद्‌हस्त अपने उस बालक को सदा-सदा के लिये अपने Divine हृदय में समेट लेते हैं। अपने पावन चरणारविंदों में लिपटे, अपने शरणागत अभ्यासी बालक के शीश पर हाथ फेरते वह वात्सल्य निर्झरिणी माँ धीरे-धीरे उसे आश्वस्त करती है कि:-

> "जहाँ कहीं है ज्योति जगत में, जहाँ कहीं उजियाला।
> वहीं खड़ा है तेरा अन्तिम मोल चुकाने वाला॥"

*

■ शीघ्र चलने या उन्नति का Credit अभ्यासी को ही है, क्योंकि मैं तो उसे केवल शीघ्र चलने को मजबूर कर देता हूँ।

- श्री बाबूजी

*

पथिक

स्मृति लौटी। सिर चकराने लगा। ऊपर देखा तो कोई हाथ फैलाये संकेत कर रहा था।

चेतना लौटी, विचारों से विजय पाई, बुद्धि लौट आई। राजपथ पुनः चालित हुआ। एक आता था और एक जाता था। कोई त्यागी वैरागी था, कोई उदासीन मृत-वत् था। परन्तु सब सबसे पृथक थे। कोई किसी से बोलता तक न था। क्यों?

बिलम्ब हो जाने का भय था। दृष्टि तो कहीं दूर क्षितिज को भेदन कर के कुछ ढूँढ रही थी। वह चौंक-चौंक पड़ता था- कारण?

किसी का मधुर, सुखद स्पर्श पाकर। और यही था उसके पगों में गति प्रदान करने वाला एवं निरंतर चलाने वाला।

एकाएक वह ठिठक गया। आगे मार्ग न मिलता था। चढ़ाई ऊँची थी। स्वतः प्रयत्न निष्फल होते थे। गति जवाब दे चुकी थी। परन्तु यह क्या?

एकाएक मार्ग दृष्टि गोचर हुआ। वही मधुर स्पर्श शीश पर था। पगों में गति आ गई और वे आगे बढ़ने लगे।

देखा वहाँ प्रेम का सुखद-सिन्धु था।

वह प्यासा था ही, मुँह लगा दिया और देखते ही देखते गट कर गया। बिन्दु में सिन्धु समा गया, परन्तु अभी विश्राम कहाँ? वह एक-एक स्थान देख-देख कर चलने लगा, क्योंकि चढ़ाई ऊँची थी।

पहली ही सीढ़ी चढ़ पाया था। कितने आनन्द का साम्राज्य था। मन विभोर हो ही उठता था, फिर भी हाय खाये लेती थी। वह बड़बड़ा उठता था-

''पकरि करेजौ आपनो हाय खाय ले वीर।

बिन प्रीतम क्यों जीवना घुनगौ सकल शरीर॥''

सम्भवतः इसीलिये वह आगे बढ़ता जाता था। एकाएक गति पुनः क्षीण हुई। किन्तु मधुर स्पर्श?

वह पुन: अग्रसर होने लगा। दूसरी सीढ़ी पार कर रहा था। किसी ने करुणावश कुछ दिया तो खा लिया, किन्तु होश न था। मुँह में कौर था, किन्तु ज्ञान न था कि चबाये, थूके या मुँह में रहने दे। सम्भव है कि अवधूतावस्था के वस्त्र से ही शरीर ढका हुआ था। फिर भी 'मालिक' की कृपा, पूर्ण चेतना को लुप्त होने से रक्षा करती थी। अब देखते ही देखते तीसरी सीढ़ी आ गई। उसी पर वह चल रहा था। जीना भी ऐसा था कि जिसकी एक सीढ़ी दूसरी से दुगुनी चौड़ी मिलती थी। परन्तु वह तो बाह्य नेत्रों को प्राय: बन्द करके आंतरिक नेत्रों की निर्मल ज्योति के आधार पर चलता ही चला जा रहा था। क्यों?

उसे पहुँचना ही था। अब न किसी से पर्दा था और न पृथकता ही थी। मानों मुर्दा भी मर चुका था।

वह यह सीढ़ी भी पार करके बैठकर सुस्ताने लगा कि आँखें लग गईं। अचानक किसी की कृपा शक्ति का झटका लगा। आँख खोलकर देखा, तो पाया कि सादगी से भी सरल एवं शुद्धता से भी शुद्ध एक मैदान सा सामने था। ऐसा लगता था मानों वह प्रभु के हल्के तथा शुद्ध हृदय में तैरता चला जा रहा था तथा 'उसके' ही हृदय-रूपी मैदान में खेलता-खाता चला जा रहा था। मस्त था, कोई फिक्र न थी, क्योंकि मैदान पार करते ही अपना वतन दिखाई पड़ रहा था।

एकाएक वह बोल उठा-"अरे! वह देखो चटियल मैदान आ गया।"

किसी ने पूछा- "यह चटियल मैदान क्या है?"

"अच्छा, सुनो! कदाचित् तुमने आध्यात्मिकता का नाम सुना होगा। यह उसका ही साम्राज्य है।"

अब तो झाड़-झंखाड़ साफ़ हो चुके थे, इसलिये पग संभालकर रखने की आवश्यकता न थी। न मालूम किसी की सुमधुर याद में वह भागने लगा कि एक ध्वनि सुनाई पड़ी- "इतनी शीघ्रता से क्यों भागे जा रहे हो पथिक?"

"अपना सौदा करने।"

"ऐसा सौदा कौन करेगा?"

"जो ग्राहक की बाट जोह रहा है।"- वह पुन: अग्रसर होने लगा। पाँच सीढ़ी चढ़ चुका था, किन्तु चैन न पड़ता था। विकल हो उठता था। किसी ने पुन: प्रश्न किया- "पथिक! कहाँ चले?"

उत्तर मिला- "वतन की ओर।" परन्तु बेचारा ज्यों ज्यों आगे बढ़ता जा रहा है, स्मरण-शक्ति क्षीण पड़ती जाती है। नेत्रों की ज्योति धुँधली पड़ती जाती है। हाथ को हाथ नहीं सूझता है। बरवश मुख से निकल पड़ता है, अब तो बाबूजी- "बिना भक्ति तारो, तब तारिबो तिहारो है।" एकाएक किसी ने वही प्रश्न दुहराया- "पथिक! कहाँ चले?" परन्तु उत्तर न मिला। "क्या चाहते हो?" "मालूम नहीं"

"तुम तो Realization चाहते थे?"- एक छोटा सा हाँ उत्तर मिला।

"किसका?"- "पता नहीं, ईश्वर का, अपना या सद्गुरू का।"

"भाई, पथिक स्वयं विस्मित है, कि कहाँ जाना है, किन्तु जाना है, क्योंकि अनन्त के पार भी कोई शक्ति, कोई डिवाइन आकर्षण उसे खींच रहा है।"

"कैसे जाओगे? आगे न प्रकाश दिखलाई पड़ता है, न मार्ग, फिर कैसे जाओगे?"

"जाऊँगा, उसी आकर्षण के सहारे। वही प्रकाश है और वही उससे प्रकाशित सहज मार्ग। बस वही मेरे नेत्रों की ज्योति है।"

* * * * * *

गगन की तारिकाओं ने पूछा- "कहाँ चले पथिक?" उसके अपलक नेत्रों ने संक्षिप्त सा मौन उत्तर दिया- "पता नहीं।"

"सो, क्यों कर?"

वही निरूत्तर सा उत्तर था- "सुधि नहीं।" अचानक कोई आसमानी चादर के भीतर से मुस्कुराया- "चलना कैसा, जब होश नहीं? चलोगे कैसे, जब पता नहीं? यहाँ तक कैसे आ पहुँचा, यह भी स्मरण नहीं।"

"बावला हो गया है।" किसी ने कहा।

पथिक, गम्भीर विचार में मग्न है कि अब कौन सी ऐसी वस्तु उसके पास रह गई है, जिससे आगे का मार्ग मिल सके। कुछ समझ में नहीं आता। बेचारा इधर उधर टटोल रहा है। इतने में स्मरण आया, किसी ने कहा है कि "अब आगे का पता तो लापता होने से मिलेगा।" "ओह! कैसा भूल चुका था वह, अब यही स्मरण-ज्योति उसे आगे का मार्ग दिखला रही है और डग आगे को बढ़ चले। किन्तु यह तो अनोखी बात है कि लापता होने से पता मिल सकेगा और वही दिव्य ज्योति उसे अब मार्ग-दर्शन करायेगी। वह चलता जा रहा है, नेत्रों को हृदय में

गड़ाये। मन्द-मन्द सुगन्धित बयार बहती, किन्तु वह तो मानों सब ओर स बेपरवाह होकर बहा जा रहा है एक ही बहाव में। अपनी पुकार से तो बेपरवाह हो सकता था बेचारा, परन्तु?

''पथिक! कुछ हमारी भी सुन लो। क्या तुमने ग्रन्थों में ईश्वर-दर्शन के विषय में भी कुछ ज्ञान प्राप्त किया है?''

''स्मरण नहीं आ रहा है।'' कुछ सोचते हुए उत्तर दिया पथिक ने।'' सम्भव है, कुछ पढ़ा हो, किन्तु ग्रन्थों के ज्ञान को स्मरण में रखकर करना ही क्या है। उसमें विभिन्न मत एवं विभिन्न विचारों के स्पष्टीकरण के अतिरिक्त कुछ दृष्टि में नहीं आ पाता है, जबकि केवल 'एक' को प्राप्त करने का ध्येय है। पेट भरना चाहिये, चाहे आम खाकर भरे, चाहे और कुछ खाकर, चलते हुए पथिक का संक्षिप्त उत्तर था। उसकी स्वयं की सुरति तो अकुला रही थी कहीं पहुँच कर विश्राम लेने के लिये।

''ऐसा क्यों कह रहे हो पथिक?''

जब तक हमारा ख़्याल लक्ष्य की ओर है, ध्यान भी तब तक ठहर नहीं सकता है। जब तक हमें गंतव्य की खोज है और अपने पथ का ध्यान है हमें Forgetful State प्राप्त नहीं हो सकती है किन्तु जब हम स्वयं ही खो जाते हैं किसी की खोज में, और अपने ही देश में अपने होने की प्रतीति भी समाप्त हो गई होती है, तब हममें जो अपने होने के भाव की अनुभूति थी, वह भी लय हो जाती है। जो स्वयं ही खोया हुआ लापता रहता हो, ऐसे ईश्वर की प्राप्ति के लिये हमें उपाय भी उससे मिलता-जुलता ही खोजना चाहिये। केवल Divine ज्योति ही है जो हमें आगे पथ-प्रदर्शन कराती जा रही है।'' पथिक विचारमग्न है, ठिकाने पर पहुँचने के लिये उसे बेठिकाना होना पड़ा है। घर पहुँचने के लिये ही उसे बेघर होना पड़ा है। किन्तु उसे पता मिला तो कहाँ का है?केवल एक बसे घर से उजड़े घर का स्मरण आंया है। बटोही विचार मग्न है, कोई देता है तो खा लेता है, होश सम्भालता है, पुन: विस्मृत हो रहता है। वैराग्य की अटल ज्योति ने उसके मस्तिष्क से राग की रंगत समाप्त कर दी थी। वह सोता है, परन्तु निद्रा वशीभूत नहीं होता है, स्वतंत्र विचार और नेह का संग्रह है, तब फिर उजड़ा घर कैसा? ठीक ही तो है, जबकि वह स्वयं के गृह (ईश्वरीय) को ऐसा विस्मृत कर चुका था कि उसकी उसे ख़बर तक न रह गई थी तब वह उजड़ा था किन्तु जो बीता, सो बीता। अब एक प्रकाश-कुटीर के समक्ष वह खड़ा है। परिणाम-स्वरुप उस दिव्य ज्योति ने उसे उस चटियल मैदान से निकालकर अब ऐसे स्थान पर खड़ा कर दिया है कि जहाँ पर

पहुँचकर वह उस चटियल मैदान के अपरिमित आनन्द की गति का भी स्मरण नहीं कर पा रहा है। हाँ, इतना सा ही शेष है कि कभी-कभी उसके मस्तिष्क में यह याद घूम जाती है कि वह भी इस मैदान में चल चुका है। वह भी इसलिये कि अभी हाल ही की बात थी या यूँ कह लीजिए कि भीगी हुई वस्तुओं का प्रभाव अभी पृथ्वी पर था और उसका परिणाम था सीलन।

बटोही! क्या मेरी न सुनोगे?''

''क्यों नहीं सुनूंगा भाई!''

''सीलन से तुम्हारा क्या मतलब है, समझ में नहीं आया।''

''बहुत सरल से अर्थ हैं मित्र! हमें इस समय भी अपने आप का कुछ तो पता था ही और यह इतनी सी बात आध्यात्मिक पथ में अभी सीलन का काम कर रही थी।''

''जब यह सीलन भी न रहेगी पथिक! तब क्या होगा?''

''तब? वह वस्तु होगी जिसका विश्वास न करोगे इसलिये कि वहाँ की दशायें केवल उन फ़कीरों के लिये ही है, जो ईश्वर पर सच ही मिटे हुए हैं। समझ भी उसकी ही यहाँ काम कर सकती है, जिसने अपनी बुद्धि को त्याग कर ईश्वरीय बुद्धि में उसे मिला दिया है। चटियल मैदान की सैर को पूर्ण करने के पश्चात् हम इस अनोखे से मैदान में आ पहुँचते हैं, जिसे कहने मात्र को ही मैदान कह सकते हैं।''

''किन्तु, मेरे पथिक! यहाँ का मंज़र क्या है?

''भोले मित्र! उस मैदान में हमारे नेत्र इतने तो खुले ही थे कि वहाँ हमें प्रकाश की कुछ ऐसी झलक दिखलाई पड़ती थी, जिससे हमें मार्ग की पहिचान हो जाती थी और अब यहाँ मानों नेत्रों के उस प्रकाश की भी जान निकल गई हो। जब प्रकाश की मृत्यु हो जाती है, तब सब ओर केवल अन्धकार ही रह जाता है, जिससे आध्यात्मिक-पथ के पथिक बहुत भयभीत रहते हैं और प्रार्थना करते हैं कि उन्हें ईश्वर अन्धकार में जाने से बचाये। इसका कारण भी है कि जब तक भौतिक नेत्रों में दृष्टि है, तब तक वह बाह्य-प्रकाश पर ही पड़ती है और वही हमें भाती भी है, किन्तु यहाँ यह दशा है कि नेत्र ज्योति (बाह्य) पथरा गई है देखते-देखते वाह्य से तबियत भी भर गई, तब कहीं यह दूसरा द्वार पाया है।'' ''पथिक! क्या इतनी सी

बात और बताओगे कि जब दृष्टि ही जाती रही तो फिर आगे चलने के लिए तुम्हें सहारा ही क्या रहा?''

''मित्र! वह सहारा है अनुभव की लकड़ी और उसमें भी विस्मृत (लय) हो रहना। यद्यपि अब दिखलाई तो कुछ नहीं पड़ता। हाथ को हाथ नहीं सुझाई पड़ता है, किन्तु आगे के अनुभव मुझे यह विश्वास दिला देते हैं कि अब वही दशा समक्ष में व्याप्त है कि जो हो सकती है। लोग यह कह सकते हैं कि नेत्रों को फोड़कर ऐसे स्थान पर पहुँचे तो क्या पहुँचे? किन्तु जब हमारी कोई वस्तु फूट जाती है अथवा खो जाती है, तभी उसके स्थान पर दूसरी वस्तु आती है। उसी फूटी हुई वस्तु के बदले से अनुभव का सहारा मिला एवं फूटी हुई वस्तु की जगह यह वस्तु (दशा) हमको मिली है किन्तु फिर भी अभी अन्धकार पूर्ण रूप में नहीं है, बल्कि अन्धकार का प्रारम्भ है जिसमें अभी प्रकाश के परमाणु कुछ मिले हुए हैं। इन्हीं प्रकाश-परमाणुओं के प्रभाव से ही मुझे प्रीतम की याद आती है अथवा यों कह लो कि अभी इतनी सी कमज़ोरी शेष है कि प्रियतम का स्मरण अनुभव गम्य तो है। अभी इतना सा अधूरापन तो मानना ही पड़ेगा, कि मैं देख रहा हूँ कि ''गन्तव्य'' अभी दूर है। यद्यपि अब स्मरण में भी अन्तर है। वह यह कि स्मरण ऐसा आता है कि जैसे सोते में किसी की याद आ जाती है, तो मस्तिष्क में प्रभाव तो अवश्य पड़ता है, परन्तु हृदय उस स्मरण और उसके आनन्द का अनुभव पूर्णरीत्या नहीं कर पाता है। इस अनोखे क्षेत्र में पूर्ण अन्धकार न होते हुए प्रकाश-परमाणु अभी मिलते हैं। दशा बड़ी हल्की, सरल एवं सूक्ष्म होते हुए भी घनत्व पुट लिये हुए है। विद्युत की कड़क यहाँ पर नहीं है, फिर भी वह चीज़ तो अवश्य है कि विद्युत की चमक उत्पन्न कर सकती है और वे कण उपस्थित हैं, जिनसे ऐसे परमाणुओं की उत्पत्ति अवश्य हा सकती है।''

''तो फिर ऐसे अन्धेरे मैदान की क्या विशेषता रही, राही।'' चलते-चलते पूछ ही बैठा राही। ''इस अन्धेरे मैदान में?'' हँस दिया पथिक और बढ़ते बढ़ते बोला- ''यहाँ हमारी यह दशा हो जाती है कि समस्त इन्द्रियों और हृदय पर कुछ ऐसी दशा छा जाती है कि व्यर्थ बातों की ओर कभी तबियत नहीं जाती। जिस प्रकार अधिक चोट आ जाने पर हमारी समस्त इन्द्रियाँ उस चोट के दर्द में रमाव के अतिरिक्त और काम नहीं करतीं। इस मैदान में आने पर हमें यहाँ (असलियत की) ऐसी ही गति विस्तृत मिलती है। इसके अतिरिक्त कुछ न कुछ ईश्वरीय शक्ति का भी अनुभव होने लगता है। क्यों न हो उसे कि जिसने केवल गन्तव्य की ओर ही ताका हो और

यहाँ तक कि अपनी आंतरिक दृष्टि का Ratina expand कर दिया हो। यहाँ पर सुयोग्य सद्गुरु की महिमा दर्श होती है कि हमारे नेत्र पथराये (भौतिक दृष्टि) रहें, और हमारा दैविक मार्ग सीधा और सहज बना रहे, हमें दायें-बायें की सुधि न रहे। यहाँ तक कि उस दैविक अन्धकार में भी निधड़क बढ़ते ही चलें एवं हमारी समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ उसी प्रभाव को अपने में समेटती चलें। वास्तव में ये अन्धेरा नहीं है मित्रों, ये उस वास्तविकता की तलछट है अथवा उस मूल का तत्त्व है कि जिसमें हमें एक हो जाना है। इसी कारण यह क्षेत्र इतना विस्तृत है कि जिसकी माप हमारे अनुमान में नहीं आ सकती है। यह अपने समान का पहला ही क्षेत्र है। अब तो समझ गये होगे मित्र! कि इस दैविक अन्धकार में चलने की सामर्थ्य केवल उसी समय हो सकती है जबकि काफ़ी तौर पर हम अपने से विस्मृत होकर विस्तृत हो चुके होते हैं। जब शरीर का भान नहीं, अपने होने का गुमान नहीं, तब चाहे प्रकाश हो अथवा अन्धकार हो। हाँ पथिक को पग-पग पर पथ-प्रदर्शक श्री बाबूजी की आवश्यकता होती है ताकि बेचारा कहीं इस अन्धेरे में गुम न हो जाये।''

चल दिया बटोही बेसुध और बेखुद होकर। कल-कल करती सरिता से प्रतिध्वनित हुआ, अनोखा है पथिक। डाल पर बैठी कोयल भी मानों पूछ बैठी- ''को हौ, को हौ।'' सामने ऊँची टहनी पर बैठे पपीहे ने पुकार मचाई- ''पी कहाँ? पी कहाँ?'' धरणी ने उत्तर दिया- ''अनोखा'' है उसका साम्य रूप। सहज-गति से बहती प्रकृति ने उत्तर दिया- ''सहज-मार्ग'' का पथ ही अनोखा है।''

किन्तु निःशब्द और निरूत्तर था इस अनोखे मार्ग पर चलने वाला बेचारा— पथिक!

*

परदेशी

जान्ह्वी-तट पर बिखरे रजत-कणों से भगवान् भास्कर भोले मानवों के साथ क्रीड़ा करते उन्हें भुलावा देते रहते। कभी चाँदी के कण का आभास पाकर इक्का-दुक्का आँख बचाकर उन बालु कणों को हाथ में उठा ही लेता। कभी मृग-तृष्णा रूपी जल से कोई अपने तृषित कंठ को प्लावित करना चाहता, किन्तु निराश होकर दो एक सुना ही देता भगवान् भास्कर को, परन्तु वे तो ठिठोलीबाज ठहरे अव्वल नम्बर के, सुनने से पहले ही झाड़ देते। परन्तु माला के आगे एक न चलती।

वह तो आती रोज़ ही, किलकारियाँ भरती माता की उँगली पकड़े और घंटों उस रजत बालु में अनेकों घरौंदे बना-बिगाड़ कर खेला करती। माता फूल-माला व फूल की पुड़िया यात्रियों को गंगा मइया पर चढ़ाने को बेचा करती और उन चढ़े हुए पुष्पों को पुन: गंगा मइया से लेकर नवीन पुड़ियाँ बाँधकर बेचा करती। यही था उसका जीवन क्रम एवं इससे ही जीविका-निर्वाह में सहायता मिलती थी उसे।

एक दिन-

''माता! परदेसी हूँ, स्थान दो। विश्राम कर चला जाऊँगा।''

''देख माला, द्वार पर कौन पुकार रहा है।''

''ज़ाती हूँ अभी माँ! क्या तुझे और कोई काम नहीं रह गया है, जो दिन भर 'जा द्वार पर देख आ माला, देख आ माला' कहा करती है।''

माला बेचारी क्या दो हो जाय। एक तो यह गुड्डे का बच्चा दिन भर छोड़ता नहीं और दूसरे माँ का द्वार देखते माला की तो आँखें दु:खी जाती हैं। तिस पर भी कभी जाकर देखो तो कोई जटा बढ़ाये खड़ा डरा रहा है, तो कोई भभूत ही रमाये खड़ा है। उसे बड़ा भय लगता है। द्वार से पुन: पुकार आई- ''कोई है? परदेसी है माता!''

''जा बहुत बड़बड़ न कर। देख आ, कौन पुकार रहा है?'' माता ने पुन: कहा।

"कोई होंगे महन्त बाबा।" और चल पड़ी बेचारी माला द्वार की ओर। "आती हूँ, बहुत गला न फाड़ो बाबा।"

किन्तु द्वार पर जाकर देखा तो उल्टा निकला। बाबा के स्थान पर खड़ा था एक सौम्य ब्रह्मचारी प्रौढ़ युवक।

"तुम क्या चाहते हो बाबा?" माला ने गम्भीर मुद्रा में हाथ जोड़कर पूछा।

"बेटी! परदेसी हूँ, थका हुआ हूँ। विश्राम के लिये स्थान व आज्ञा चाहता हूँ।"

माला ने तुरत कहा- "न बाबा, विराम (बीमार) तो यहाँ कोई नहीं है, फिर क्यों आना चाहते हो?"

अबकी बार युवक मुस्कुराया- "बेटी! मैं कोई वैद्य-हकीम थोड़े ही हूँ। परदेशी हूँ, थका हुआ हूँ।"

इतने में भीतर से आती हुई माला की जननी बोली- "पाँव लागूँ महाराज! छिमा करना, यह लड़की तो बहुत बातून है। क्या चाहिये महाराज। क्या लाऊँ?"

"कुछ नहीं माता! परदेसी हूँ। थोड़ा विश्राम करना चाहता हूँ, फिर चला जाऊँगा।"

माता ने तरवाहे की साँकल खोल दी। "आओ बैठो। विश्राम लो परदेसी।" और वह जाकर बिछे हुए पयाल पर बैठ गया।

* * * * * *

माला की जननी का यही क्रम चला आ रहा था। कब से? यह वह स्वयं नहीं जानती। विवाह से प्रथम माता के यहाँ यही क्रम था और विवाह के पश्चात् पतिगृह में भी यही क्रम रहा। पति-पत्नी का यही नियम था कि दो-दो रोटियों में से दोनों एक-एक बचाकर रख लेते कि सम्भव है कोई भूला बिसरा बटोही, साधु-महात्मा उनके द्वार पर आ जाये तो वे उन रोटियों से उनका सत्कार कर सकें, परन्तु फिर भी उसका मन ऊबा-ऊबा सा रहता था। किसी भी काम में उसका चित्त दत्त न हो पाता। करने को तो वह सब ही करता। माला बनाता, दूध बेचता, गंगा पर चढ़ाने को, परन्तु जी न लगता। किसी ने कहा- "बच्चा, द्वार आये की सेवा किया करो।" बस तभी से उसके जीवन का यही क्रम चला आ रहा था।

वह अपने उद्यान को भाँति-भाँति के पुष्पों से सजाता और उसी में बने हुए कच्चे से छप्पर के मकान में वह और उसकी पति-प्राण स्त्री प्रसन्नता से निर्वाह करते। विवाह के दो वर्ष पश्चात् माला ने माता की सूनी गोद भी भर दी थी, किन्तु अपने पिता के सूखे वैरागी हृदय में राग के दो बिन्दु न ला सकी थी वह निरीह भोली बालिका। यही कारण था कि पत्नी और बालिका की राग-रज्जु उसके पैरों में बेड़ी न डाल सकी और एक दिन वह जाने कहाँ रम गया।

घर में अकेली स्त्री क्या करती। वह नौ-नौ अश्रु गिराती और पति की पद-रज सहेजती। सारी खोज बेकार गई, परदेसी न मिला। विवश हो उसने भी कमर कस ली थी कि अपना जीवन माला के लालन-पालन एवं उस वैरागी के स्मरण में काट देगी। एक समय रूखे-सूखे भोजन में निर्वाह करती। माला के लिये रोटी रखी रहती और सिकहरे पर द्वार आये के लिये भोजन तैयार रहता।

* * * * * *

जा माला, एक लोटा जल दे आ। बेचारा परदेसी है। हाथ मुँह धोकर थोड़ा ठण्डा हो लेगा।'' और न जाने क्यों उसका ध्यान अचानक ही जाकर अटक गया अपने परदेसी के चरणों में। वह तुरत उठी। एक लोटे में ताजा रस जो आज ही मालकिन ने आग्रह के साथ दिया था, लाकर रख दिया उसके चरणों के पास और नत मस्तक छोटा सा घूँघट मुँह पर निकाले हाथ जोड़े वह एक ओर खड़ी हो गई। परदेसी को तो मानों यह सब कुछ पता ही न था। वह तो माला से बातें बनाने में व्यस्त था।

''हाँ माला! तुझे मुझसे डर तो नहीं लगता?''

''नहीं, मुझे डर भला काहे को लगता, मैं भीरू थोड़े ही हूँ।''

उसने किंचित मुख बनाते हुए कहा।

''तू बातों की माला बहुत पिरोती है, इसलिए तेरा नाम माला पड़ गया।''

''नहीं, माँ कहती है कि माला तो भगवान् के कण्ठ की शोभा है। यदि माला को धारण न करे तो वे भी अच्छे न लगें।'' ''और माला, जानती है? माला सुमिरनी होती है, जिससे प्रभु स्मरण किया जाता है।'' परदेसी ने सौम्यता से कहा।

''अच्छा ताजा रस पी लो परदेसी बाबा।'' और सच ही चौंक कर उसने रस का लोटा ओठों से लगा लिया। रस पीकर लोटा धरती पर रख दिया और विरक्ति-भाव से पैरे पर लेट गया। माला को लेकर रूपा चली गई घर के अन्दर।

उस रात थोड़ा रस पीकर ही माँ-बेटी लेट गईं। माला तो तुरंत ही सो गई, परन्तु रूपा के मन में अन्तर्द्वन्द छिड़ा था। उसे नींद कहाँ?

चन्द्रदेव भी अठखेलियाँ करते अकिंचनों के गृह में रूपा बिखेर देते। पुनः भोर होते न होते समेट लेते। क्यों? क्योंकि वे भी परदेसी थे बेचारे! उन्हें भी जाना था। रूपा विचार मग्न है।

परदेसी? वही रूप-रंग, वही डील-डौल, किन्तु मुख पर धवल ज्योत्सना, हृदय में अटल वैराग्य। परदेसी आज सोया है अपनी ही सराय के द्वार के तरवाहे में। उसके प्रेम की रुपहली ज्योत्सना रूपा के अन्तर पट पर अंधकार की छाया न पड़ने देती। उसके पावन प्रेम की चाँदनी ने ही तो रूपा को मोह-तम् से सदैव दूर ही रखा।

और आज उसका ही अटल अनुराग मानों साकार बनकर परदेसी के रूप में उसके नयनों के समक्ष आया था, किन्तु सत्य और संयम के दो झरोखों से होकर उसके प्रेम की वही ज्योत्सना छन-छन कर उसे सहज संयम में मानों पाग रही थी, जो उसके अन्तर्द्वन्द को इन भावनाओं से परास्त कर चुकी थी कि जिसने दुख को नाश कर दिया है, उसे मोह नहीं होता और जिसने लोभ नष्ट कर दिया उसे ममत्व नहीं भाता और सच ही उसका हृदय बज्र हो गया था। कल भोर होते ही चला जायेगा परदेसी और जाने क्या-क्या सोच गई वह।

उस रात सो न सकी। भाँति-भाँति के विचार प्रहरुओं ने मानों निद्रा देवी को उसके निकट जाने से रोक रक्खा था। किंचित तारिकाओं के मध्य वह उठी। आँगन व छोटे से दालान को झाड़-बुहार कर शीघ्र ही आग जला कर उसने पानी गरम होने को रख दिया तथा स्वयं आटा गूँथ कर चार गरम मीठी रोटी सेंकी। यही तो उसके परदेसी को भाती थी। वह पुनः पुनः द्वार पर आहट लेती, कहीं परदेसी जाग तो नहीं गया। अपने सुहाग-चिह्नों के रव को अपने में दबाकर, साध कर डग रखती वह कि कहीं सुहागिन के यह शब्द सिन्दूर-देवता तक पहुँचकर उन्हें यह न जतादें कि तुमने इसी अभागिन की माँग में एक दिन सिन्दूर डाला था।

अचानक वे ही पुराने छन्द व दोहे उसके कर्ण-कुहरों से टकराकर ऊधम मचाने लगे, परन्तु वह? वह तो हिमालय के समान निश्चल हो चुकी थी और पवन के सदृश स्थिर जिससे परदेसी का मार्ग और भी स्वच्छ एवं सुरक्षित हो चुका था।

ऊषा की सूनी गोद अरुणाई ने भर दी थी और उसे गोद में लेकर मन्द-मन्द मुस्कराते हुए आगन्तुक परदेसी के स्वागतार्थ अंचल फैलाये खड़ी थी। एकाएक

वह आ भी गया और पक्षी चहचहा कर अपने-अपने नीड़ों से उड़कर भोजनार्थ जाने लगे। रूपा ने आकर माला को जगाया। अचानक उसे कुछ स्मरण हो आया। माला के हाथ-मुँह धुलाकर गर्म जल परदेसी को भिजवाकर आप चारपाई उठाकर उद्यान से चुन-चुन कर लाये सुगन्धित पुष्पों की एक सुन्दर सी माला गूँथ डाली।

उधर परदेसी? उसकी कुछ समझ में ही नहीं आ रहा था। यहाँ तो उद्यान, पुष्प, कल-कल करती सरिता सब कुछ उसे जैसे जाना पहिचाना लग रहा था और रूपा और उसकी माला? किन्तु वह सब कुछ जान कर भी अनजान बना रहा।

क्यों? परदेसी था न बेचारा। वह तैयार होकर चलने को ही था कि लोटे में जल और मीठी रोटियाँ लिये रूपा सकुचाई सी आकर एक ओर खड़ी हो गई। परदेसी ने देखा-

"अच्छा ला माला। दो रोटियाँ खा लूँ।"

रूपा ने जल तथा हाथ की थाली भूमि पर उसके सामने रख दी। वह खाने लगा बड़ी तन्मयता से। रूपा आत्म-विभोर थी। लगन ने लगन को ढीला कर लिया था, वह हारकर भी विजयी थी। अचानक रूपा के काँपते करों ने परदेसी के चरणों पर कुछ कोमल सा बिखेर दिया, परदेसी ने तुरत ही उठाकर उसे कंठ में पहिन लिया और चल दिया अनजान के समान। माला ने छोटे-छोटे करों को जोड़ लिया। रूपा ने मत्था टेका और वह मूक चला जा रहा था। रूपा द्वार से लग कर खड़ी हुई जाते परदेसी के मुख-कमल को एकटक निहार रही थी।

वह बढ़ता जा रहा है। उसके (रूपा के) नैन-ज्योति का दीपक साथ लेकर। एक बार घूमकर देखा, मानों कह रहा था- "साध्वी! तेरा सुहाग अचल रहे। तेरे युग-सितारों की दिव्य ज्योति का यह दीपक मुझे सहज-मार्ग दरसाता चलेगा, जिससे मैं कभी पथ-भ्रष्ट न हो सकूँगा और दोनों ही विजयी होकर रूपक-माल धारण कर वहाँ चलेंगे जहाँ से परदेसी कह कर हमें कोई लौटा न सके, देवि।"

उसके हृदय में थे आँसू और उसके नेत्रों के झरोखों में झाँक रहा था 'परदेसी'।

*

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावे

नाविक बालक मज़े में नाव खेता चला जा रहा था। एक मनुष्य ने बातों ही बातों में उससे पूछा कि उसके बाबा की मृत्यु कैसे हुई? बालक ने उत्तर दिया- ''तूफान में नाव पलट जाने से ही बाबा की मृत्यु हुई।'' मनुष्य ने पुन: प्रश्न किया- ''और पिता की मृत्यु का क्या कारण हुआ?'' बाल नाविक ने उत्तर दिया- ''यही उसके पिता की मृत्यु का कारण बना।''

''तो फिर तुम नाव क्यों खेते हो? छोड़ दो नाव चलाना।''

अब बाल-नाविक का प्रश्न था- ''तुम्हारे पिता और पितामह की मृत्यु का क्या कारण हुआ?''

उत्तर सहज सा था- ''बीमारी में घर पर पड़े ही पड़े उनकी मृत्यु हो गई।''

''तो फिर घर छोड़ दो।'' बालक का दृढ़ स्वर था।''फिर तुम्हारे निकट मृत्यु नहीं आ सकेगी।''

''मृत्यु के भय से घर छोड़ना, यह असम्भव है नाविक।'' मनुष्य का स्वर था। तो फिर, जो सम्भव है, उसका स्वागत् ही श्रेयस्कर और जो असम्भव है, उसका विस्मरण ही उचित है। सांसारिक पूर्ण सुख भी अस्थाई है, असम्भव है। उसको पीठ देना ही विचारशील जन के लिए उचित है एवम् आत्मिक-सुख जो सतत् है और सहज सुलभ है, उसकी वाञ्छना ही श्रेष्ठतम् है। जो अवांछनीय है, उस ओर देखना ही क्या? वाञ्छित, जो अपेक्षनीय है, उसे पीठ देना बुद्धिहीनता का चिह्न है। इसके मध्य की ग्रन्थि गलत है, जिसने एक को दो कर दिया। अर्थात् लाभ को देखकर हम हर्षित हो जाते हैं और हानि आने पर उदास-उदास और बिखरे-बिखरे से हो रहते हैं। मध्य की इस ग्रन्थि ने ही एक सतत् निर्झर ईश्वरीय-रस-धारा को दो में विभाजित कर दिया। हमें विभिन्न गुणों और प्रकृति में बाँट दिया, नहीं तो हम वही होते, जो हमें होना चाहिए था। 'ईश्वर-अंश जीव अविनाशी' भटक कर सुख की खोज में और भी भटकने लगा, अर्थात् सुख ने हमें सँवारा और मृत्यु ने हमें बिगाड़ कर रख दिया।

कोई रोया, संसार हँस उठा। कोई चुप हुआ, संसार रो पड़ा। केवल इन दो

वाक्यों में सारा संसार पलक मारते ही समाप्त हो जाता है न जाने कैसा है यह अस्तित्व। किन्तु इसका साँचा अस्तित्त्व, वस्तुत: तब प्रगट होता है जब धरा पर उतरी कोई महती-शक्ति अंतर में एक सोया स्वर जगा देती है। "उठ जाग मुसाफिर भोर भयो, अब रैन कहाँ जो सोवत है।" हमारे मुरझाये उदास मन को जब वह छू देता है, तो फिर मन में मधुर रागिनी थिरक उठती है कि- "मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै"। बस मन को राह मिल जाती है, प्राणों को पावन प्राणाहुति मिलने लगती है, शक्ति का संचार हो उठता है और हमारा निर्माण (लाभ) ईश्वरीय संसार के लिये संवरने लगता है। युगों से सोयी सुरति प्राणाहुति द्वारा जागकर मन की ऊर्ध्वमुखी शक्ति (वृत्ति) को थपथपा देती है और फिर मन का पंछी विचारों में उस परमानन्द स्वरूप के दैविक प्रकाश का आह्वान कर, सतत् स्मरण द्वारा अपने 'प्रिय के देश' की ओर उड़ चलता है। अब साधना-पक्ष से सिद्धि पक्ष का प्रारम्भ हो जाता है। साधना तो संसार में किसी न किसी की मानव करता ही आया है, किन्तु उसकी सिद्धि की प्राप्ति बिना योग्य सद्गुरू के कभी न किसी को हुई है और न होगी। योग्य सद्गुरू तो केवल समय की देन एवम् युग का सौभाग्य है जो हमारे नेत्रों में पावन ज्योति देकर हमें यह समझा देता है कि हम प्रकाश में आ गये हैं। ऐसी सहज आध्यात्मिक राह को रौशन करने वाले, हमें राहत देने वाले हमारे परम् जीवन सर्वस्व श्रीबाबूजी हैं।

अब ईश्वरीय-देश की पावन यात्रा का प्रारम्भ हो जाता है अथवा यूँ कहूँ कि वह हमें यात्रा के आनंद के होश को भी छीनता सा ही ले चलता है। अपने सहज पथ प्रदर्शक की मनोरम झाँकी में हर पग पर जब हमारा मन डूब-डूब जाता है तब पथ-प्रदर्शन देने के लिये उसे आगे पुनः निकाल लेते हैं। उसे भी न जाने क्या हो जाता है कि "स्वामी" की नज़र की ललक का होश भी नहीं रह पाता है। 'प्रिय' की कृपा एवम् करुणा की भी प्रतीक्षा हमें नहीं रहती है। कदाचित् इसीलिये कि वह तो हमारी जीवन-धारा के साथ ही मिल जाती है और पल-पल उसके मिलन की प्रतीक्षा का ही हो जाता है। हमारे और उनके मध्य की ग्रन्थि पिघलते-पिघलते गल कर विशुद्ध धारा में ही मिल जाती है और प्रतिपल समक्ष में हमें ईश्वर दर्शन ही दरस उठता है। किन्तु थोड़े ही समय में तबियत अपने लय हुए हाल से भी बेहाल रहने लगती है। दिव्य-प्रकाश द्वारा आगे का पथ स्वंय ही प्रकाशित होने लगता है, जो हमें यह प्रतीति देता है कि ईश्वर से तादात्म्य हो जाना ही उसकी प्राप्ति का प्रतीक है। सहज-मार्ग-साधना पद्धति द्वारा हमारे अन्दर एक नवीन चेतना (alertness)

प्रकाशित होती रहती है और हृदय में उसे दो टूक कर देने वाली ऐसी हूक उठती रहती है कि- ''मेरो मन अनत कहाँ सुख पावे।'' इससे यह स्पष्ट है कि मार्ग अनन्त है और हृदय छोटा।

अन्तर्दृष्टि में समाये नयन, अन्तर्दशा में डूबा मन एवं आत्मिक-दशा में डूबी सी सुधि एवम् प्रियतम् ईश्वर केचरणों में समर्पित हुई मानस-वृत्ति तुरियावस्था में भी हमें व्याकुल बना देती है। यही कुरेदना मैं देखती हूँ कि अपने में पुनः पुनः समेटती हुई हमें सजग रखती है जिससे हम वाह्य में बहक न जायें। यही दैविक आकर्षण हमें सचेत बना देता है कि भौतिक कृत्रिमता हमारे भोलेपन पर छक़र कहीं हमें ठग न ले। अपने बाबूजी की देख-रेख के रक्षण में पले और बढ़े हम सजग रहते हैं कि संसार के आकर्षण मायिक हैं, अधोमुखी हैं। आन्तरिक सुख की वह आतुरता, वह आकर्षण हमें एक से एक ईश्वरीय-दशाओं का ज्ञान देता रहता है, और रस भरता रहता है जो हमें श्रोत के उदगम् तक पहुँचा कर ही मानता है। यह ईश्वरीय-आकर्षण ही हमारे समक्ष ईश्वर की शक्ति का अस्तित्व प्रकट कर देता है। आकर्षण दोनों ही है। एक हमें अपने तक ही सीमित रहने देता है, इसलिये मायिक है। असीमित ईश्वरीय आकर्षण हमें उसमें लय करके ईश्वर तक पहुँचा कर उससे भी परे उठा देता है, जहाँ कि हमारा दामन तुरंत थाम लेने के लिये समय की Divine विभूति श्रीबाबूजी पहले से ही तैयार रहते हैं। उस परमानन्द का स्मरण करते हुए हमारा लय हुआ मन पुकार उठता है- ''मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।'' भक्त कवि सूरदास की वाणी भगवान् श्रीकृष्ण की सुधि को भी आकुल-व्याकुल करके कहलवा ही देती है कि- ''जबहिं सुरति आवत वा सुख की (भक्त से मिलने की) जिय उमगत तन नाहीं।'' जो ईश्वर के अस्तित्व को मानना ही अस्वीकृत करते हैं, उन्होंने तो 'वा सुख' का द्वार ही अपने लिये सदा को बन्द कर लिया है। हृदय के कपाट जो 'मालिक' के मिलन के सुख की राह पाने के लिये उघड़े हुए थे, उन पर आवरण पर आवरण पड़ते चले जाते हैं। जब कभी समय की ठेस उनके समक्ष ईश्वर के अस्तित्व को जागरुक करती है, तब पहले हमें आवश्यकता होती है उन आवरणों के विच्छेदन की जो समझ-बूझ कर हमने अपने ही गर्व में उन पर डाल दिये थे।

अब हम इतने निर्बल बन चुके हैं कि हममें मानसिक शक्ति कहाँ जो तिल भर उन्हें हिला भी सकें। ऐसे ही समय हमें आवश्यकता होती है, आशा का दीप लिये,

प्राणाहुति (Transmission) की शक्ति सहित प्रिय पावन पथ-प्रदर्शक श्री बाबूजी की, जो हमारे इतने खोये समय को पुनः वापस लौटा सकें। हमारे ज्योति-हीन नयनों में वह दिव्य-प्रकाश भर दें, जो हमारे लिये मनोरम सहज-प्रातःकाल को लौटा लायें। हमारे मनस में वह ऐसी भक्ति मय आतुर प्रतीक्षा उत्पन्न कर दें जो "मेरो मन हरि जू हठ न तजे" कहकर दैविक-द्वार पर बैठ जाये।

मेरे विचार से दो प्रकार के हठ श्रेष्ठ हैं। एक तो भोला बाल हठ जो ईश्वर की प्राप्ति के प्रति ही होता है जो गन्ने की गड़ेरियाँ नहीं, बल्कि गड़ेरियों से गन्ना बनवाने के लिए मचल उठता है अर्थात् ईश्वर से तादात्म्य पाने के लिये ही हठ कर बैठता है। यह है राज योगी हठ जो सतत् ईश्वरीय-धारा में बहते-बहते दिव्य से दिव्य दशाओं में लय होते हुए आगे चलता ही जाता है। पर्वत सामने हो, परवाह नहीं, समुद्र सामने हो, उसे पी जाने की क्षमता वाला वास्तव में राजयोगी ही है। दूसरा है हठ योगी का हठ जो अपने क्रियात्मक उपायों द्वारा शक्ति उपार्जन करते हुए हठ से आज्ञाचक्र की हालत को श्रेष्ठतम् मानकर अपने को हठयोगी ही मान बैठता है। कितना अन्तर है? उन्हें तो आकर्षण है ऊर्ध्वमुखी वा Divine सुख का और इन्हें (हठयोगी) मायिक सिद्धि के आकर्षण ने अपने तक ही सीमित कर लिया है। सम्भवतः इसी कारण से हठयोग को राजयोग में पहुँचाने वाला सोपान कहा गया है।

अब केवल इस बात के लिये मन बेचैन रहता है कि वह सुख कौन सा है, जो शाश्वत है? वह शान्ति क्या है, जो सनातन है? वह आनन्द क्या है, जो निरानन्द है? वह ध्यान कौन सा है जो ध्येय से योग प्रदान कर दे एवम् वह धारणा क्या है, जो धारण करने से दैविक-लक्ष्य की प्राप्ति हो गए। वह उपासना कौन सी है जो श्रेष्ठ है? इन सब जिज्ञासाओं का उत्तर तभी हमें मिलता है जब उस श्रेष्ठतम् दिव्य-गति की प्राप्ति हमें होती है, जहाँ भगवान् अथवा अवतार की परम् शक्ति भी डूबी रहती है। हमारे लिये शान्ति का स्थान वही है, जहाँ युग से क्लेशों से क्लान्त मन को साम्य एवं चिर विश्राम मिल जाता है। सच्चा आनन्द वही है जहाँ पहुँच कर निरानन्द होते हुए अनुभूति में डूब जाते हैं और श्री बाबूजी के ही हो रहते हैं। आनन्द हमारी वास्तविक स्थिति का प्रतीक है। जब हमें अपने अन्तर-बाहर, कण-कण में सत्य ही सत्य भासने लगता है वही निरानन्द की स्थिति हमारे में पैठने लगती है। साधक के लिये सर्वोत्तम ध्यान वही है, जिसमें ध्येय ईश्वर में हम सदा-सदा के लिये विलीन हो जाते हैं। उत्तम धारणा हमें वही धारण करनी चाहिये

जो हमें सर्वत्र ईश्वर का भास करा दे। इसीप्रकार जब हमारा मन सदैव उच्च आसन पर आसीन रहने लगता है, मन सदैव ही ऊर्ध्वमुखी हुआ ईश्वर को ही निहारता है, तभी हमारी उपासना सफल एवम श्रेष्ठ हो जाती है। ऐसा तो होता ही है, क्योंकि होना ही चाहिये। इन सबको धारण करने से हममें प्रतिपल एक दिव्यता उतरती है और हमें तेजस्वी बनाती जाती है। सहज-मार्ग-साधना पद्धति द्वारा हमारे अन्दर ऐसी नवीन चेतना प्रकाशित होती है, जो अपनी निर्मल ज्योत्सना में स्नान कराकर हमें तेजस्वी तपस्वी के रूप में ला खड़ा करती है।

वास्तव में हमारा मन तभी सुखी हो सकता है जब भक्ति की दशा प्रारम्भ हो जाती है। भक्ति वास्तव में प्रियतम् में डूब जाने को कहते हैं। अपनी वास्तविक दशा में डूबे रहने की दशा ही वास्तविक भक्ति (Devotion) है। हम प्रवेश वहीं पा सकते हैं जहाँ हमारा घर है जो वास्तव में हमारी जननी है, सर्वस्व है। वहाँ के लिये ही हमारे अन्दर की पुकार है कि- ''मेरो मन अनत कहाँ सुख पावे'' जो तभी सम्भव और सफल है, जबकि-

''उठा बबूला प्रेम का, तिनका उड़ा आकाश।
तिनका तिनके सों मिला, तिनका तिनके पास॥''

अर्थात् तब हम जिसके हैं उनके पास ही पहुँच जाते हैं।

*

■ यदि अपनी प्रशंसा नाग़वार गुज़रती है तो इसका मतलब है कि अभी किसी न किसी रूप में ख़ुदी मौजूद है।

- श्री बाबूजी

*

अपनी कमज़ोरी

मनुष्य क्या करे, जब सब उसकी अपनी ही कमज़ोरी है। वह दुखी है, दरिद्र है, चिन्तामय है, अशान्त है, ये सब उसकी अपनी ही कमजोरियाँ हैं। ऐसा हर एक कहता आया है, और कहता रहता है। किन्तु इस कथन में कितनी सत्यता है इस बहकावे में कितनी गहराई है; इस छलना में कितनी यथार्थता है, इसका पता हमें तभी ठीक लग सकता है, जब हम स्वयं इसके कारणकी खोज करें तथा स्वयं अपनी कमज़ोरी की ओर ध्यान दें। हाँ, यह अवश्य है कि वह बेचारा ध्यान दे ही कैसे सकता है, जबकि उसका ध्यान तो तमाम ओर आकृष्ट एवं बँटा हुआ है। हमें आवश्यकता है कि कोई ऐसा ध्यान हमें मिल सके जो इतना शक्तिमय हो जो हमारे समस्त में बिखरे हुए ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट कर ले। वह अपनी ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर सकता है कब? जब इस ध्यान की तह में कुछ ऐसा हो जो हमें प्रिय लग सके। हमें प्रिय भी तो वही कुछ लग सकता है, जिसमें हमारे प्रति कुछ अपनत्व का आकर्षण हो। स्वयं के अपनत्व के आकर्षण को तो हम बिखेर चुके हैं समस्त को अपना बनाने में या यों कह लें कि समस्त का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेने में। यह नहीं सोच पाये कि जहाँ हमारा ध्यान बिखर रहा है, वहाँ कोई तथ्य है भी या नहीं। हम यह नहीं सोच सके कि हम जहाँ तक अपना ध्यान विस्तृत कर चुके हैं, वहाँ से उसके परिणाम में हम कुछ पा भी रहे हैं या कुछ नहीं। कदाचित् हम इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये तैयार न हों सकें क्योंकि इसका उत्तर खोजने में शायद हमारे अनजाने में ही हमें पुन: बिखर जाना पड़ेगा। बस यही हमारी एक अपनी कमज़ोरी सदैव से हमारे पीछे लगी रही है। हम जहाँ भी अब तक बिखर चुके हैं, हमारे ध्यान का वितरण जहाँ तक भी जैसा कुछ भी हो चुका है, बस हो चुका है। इस लय-लीनता ने हमें इतना निर्बल एवं नि:सहाय कर दिया है कि फिर कुछ अन्य सोचने में न हमारी रूचि जागृत हो पाती है और न हमें इतनी शक्ति का अनुभव होता है कि हम कुछ दूसरी ओर सोचें, कहीं दूसरी ओर ध्यान दें। यही हमारी अपनी कमज़ोरी है जो हमारे अन्दर आ पैठी है कि जिससे उबरने का विचार तो दूर रहा, हम निराश से, निरावलम्ब से अपने समस्त में खोये

हुए ध्यान में लय होकर और भी गहन में सो गये। इतना ही नहीं, फिर ऐसी दशा में चिपके रहते हुए हमें इसी अवस्था में भी एक आलस्य एवं अकर्मण्यता का आनन्द मिलने लगा। हमारे अन्तर में चिन्ता और अशान्ति की चिनगारी जलती रही, फिर भी हम सो गये और सोते रहे, यही हमारी अपनी कमज़ोरी थी। अशान्ति, जिसे हम कभी नहीं चाहते थे, भटकना जो हमें कभी भी प्रिय नहीं था, बिखरन जो सदैव हमें अस्थिरता का मार्ग दिखलाती रही, हम अप्रसन्नता पूर्वक अथवा अप्रसन्न मुद्रा में ही सही सब देखते रहे, सब झेलते रहे, क्यों? हमारे प्रमाद ने हमें लाचार कर दिया, हमें उठने न दिया। बस यही, इतनी सी ही तो हमारी कमज़ोरी थी। कहीं से, किधर से भी, किसी ने वह सच्चा गीत नहीं गाया जो मन के सोये तारों (वृत्तियों) को स्पर्श कर जाता। किसी ने भी वह ममतामयी वास्तविक जननी की लोरी नहीं सुनाई, जिससे हम चौंककर चेत जाते कि वास्तव में इन थपकियों में कितना आराम है। वात्सल्य की वह वीणा हमारे अन्तरमन् के सोये तारों को झंकृत कर जाती, जिससे हम उस वास्तविक साँचे चैन का, आनन्द का, एवं उस परम शान्ति का संकेत पा जाते, जिससे हमारा फैला मन, हमारा बिखरा ध्यान सिमट कर केवल एक ओर ही, उस ओर जा ठहरता, जहाँ से सहज-मार्ग की सहायता से चलकर हम कम से कम वहाँ पहुँच सकते, जहाँ हमारा इन्तहाई ठहराव होता, जो हमारे लक्ष्य तक पहुँच पाने की राह में हमारे लिये आरामदायक इन्तहाई पड़ाव हो जाता। फिर तो हम वहाँ पहुँच ही जाते कि जहाँ के लिये हमारा ध्यान जाग्रत होकर हमसे जल्दी वहाँ पहुँचने की शीघ्रता कर रहा था। बस तभी हमारी अपनी सारी कमज़ोरी दूर हो जाती। इसी स्तर पर पहुँचकर हम सारा अवसाद, अवहेलना और बिखराव को ठेलकर बहुत परे पहुँच जाते, महान् बन जाते। तब दिव्यता हमारे अन्तर में उतर कर अपने अपनत्व-मय प्रकाश से हमारे अन्तर और वाह्य सबको प्रकाशित कर देती। ऐसी स्थिति को पाकर हमारी नस-नस में उसी रक्त का संचार हो जाता जो हमारे ध्यान को समेटकर किसी और को सँभलाकर हमें निर्द्वन्द बना देता। हमारे अन्तर में ऐसी दृढ़ता भर जाती कि हम स्वयं बोल उठते कि मनुष्य में अपनी कमज़ोरी कुछ भी नहीं है। इसका थोथा अहं ही केवल कमज़ोरी है। हम स्वयं अपनी ही छलना द्वारा छले जाते हैं। ईश्वरत्व को भूलते हुये उससे दूर होते चले जाते हैं, जो हमारी रहनी का मुख्य एवं श्रेष्ठ केन्द्र है। केवल मनुष्यत्व (अधोमुखी) में सीमाबद्ध होकर रह जाते हैं, यही हमारी अपनी कमज़ोरी है।

दूसरी बात यह कि अपनी कमज़ोरी पर भाँति-भाँति के आवरण डालकर हम उसे और भी सुरक्षित करने लगते हैं। हम यह नहीं समझ पाते हैं कि जिसे हम सुरक्षित रखने का प्रयत्न कर रहे हैं, यह तो हमारी अपनी कमज़ोरी है। संसार की यह रीति है और समाज की यह नीति कि हम जिस ओर प्रयत्न करते हैं, चाहे गलती की ही ओर करें, वह हमारे लिये वैसे ही बानक और वैसा ही सामान संजो देता है। सहयोगी भी वैसे ही हमें आ मिलते हैं और हम योगी से अयोगी ही बन जाते हैं। हमारी आन्तरिक शक्तियाँ और विवेक सबका दुरुपयोग स्वतः ही प्रारम्भ हो जाता है। उदाहरण स्वरुप एक बीमार मनुष्य को यदि हम यह समझायें कि ईश्वर का धन्यवाद है जो तुम्हें यह थोड़ा सा ही कष्ट है। उसकी कृपा से यह शीघ्र दूर हो जायेगा। वह भी यह समझ जाता है कि ईश्वर सचमुच कृपालु है। किन्तु उसी रोगी के सामने यदि कोई यह कहने लगे कि भाई भोग तो सबको भोगना ही पड़ता है, चाहे ईश्वर की पूजा करो या कुछ भी करो। अब देखें कि उसके अन्दर जो शक्ति इस परिस्थिति का सामना करने के लिये उपरोक्त कथन द्वारा प्रकाशित हुई थी, वह धीरे-धीरे बुझने लगती है और वह निराश एवं निढाल सा पड़ जाता है। कमज़ोरी आ जाती है। इसका अर्थ है कि वातावरण हम स्वयं बनाते हैं। जब शक्ति की ओर, प्रकाश की ओर, ऊर्ध्व की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट हो जाता है तब हम शक्तिमान हो उठते हैं। तभी हम उन्नति करते हुए जान पाते हैं कि मानव केवल मानव नहीं वरन् कुछ और है। वह यह नहीं है, जो है, वह तो जो है, सो है। यही उसका सत्य स्वरूप है, शेष सब उसका थोथापन है, बासीपन है।

हमें चाहिये कि हम यदि कमज़ोरी को दूर भगाना चाहते हैं, तो हम कमजोरी से दूर भागें। अपने विचार एवं ध्यान को सुख-दुख की समस्याओं के सोचने में ही व्यस्त न कर दें, वरन् इसके धागे को खींचकर सहजतापूर्वक उन्नति पथ पर बिछा दें। मन की यह आदत पड़ गई है कि वह एक से ही विचार एक सी ही हालत में आराम करने लगता है, चाहे उन्नति की ओर हो चाहे अवनति की ओर हो। धीरे-धीरे खींचते हुए उसे ईश्वर में रहने की आदत में प्रवेश देते-देते फिर उसका भटकना शान्त होकर ध्यान में श्रेष्ठता की ओर मोड़ ले लेता है। कुछ विचार का क्षेत्र बदल जाने से मस्तिष्क में ताज़गी आ जाती है और स्फूर्ति का हम अनुभव करने लगते हैं। आध्यात्मिकता का ही क्षेत्र लीजिये, यदि हम ईश्वर के सतत् स्मरण में ही मन को डूबे रहने को छोड़ दें, वहीं ध्यान जमाकर रख दें तो हम उस ध्यान में पूर्णता नहीं ला सकते हैं। ईश्वर के सतत् ध्यान द्वारा सतत् तल्लीनता में जो कुछ ईश्वरत्व, जो अवस्था हमारे अन्तर में उतरती है, उसके प्रति भी हमारा ध्यान

जागरुक रहे, हम सचेत रहें। यह भी उतना ही आवश्यक है, जितना हमारे लिये सतत् ध्यान है। हमने अपने आन्तरिक आनन्द का आनन्द ही न उठाया तो उससे हमें लाभ ही क्या? हम अपनी चेतना के प्रति सतर्क न हो सकें तो हम जागे ही क्या? सब कुछ एक सम्मोहित सी अवस्था की तरह निकल जाये- ध्यान एवं तल्लीनता के लिये मन की ऐसी समाधि के लिये मैं कभी तैयार नहीं। वह वीर एवं सच्चा और सफल योद्धा है जो युद्ध-क्षेत्र में जमकर और सतर्क होकर लड़ता है। वही अपना अनुभव भी दूसरों को दे सकता है। ध्यान की पूर्णता एक तल्लीनता में नहीं, समाधि में नहीं, बल्कि उसका आनन्द उठाये हुये आगे बढ़ते रहने में है। अन्धे के हाथ में लाठी देकर छोड़ दीजिए तो वह किसी न किसी प्रकार कलकत्ता पहुँच जायेगा परन्तु उसका आनन्द, उसका कथोपकथन मौन ही होगा।

भलाई इसमें ही है कि हम अपनी कमज़ोरियों के आवरण का दामन अपने जागरुक प्रहरी सद्गुरू श्री बाबूजी को थमाकर निर्द्वन्द होकर आध्यात्मिक परमानन्द सागर में उतर पड़ें। फिर वहां का अनुपम दृश्य देखते हुए उस अनमोल रत्न की प्राप्ति कर लें जो हमें हमारी कमज़ोरियों से ही क्या, बल्कि जो हमें हमसे ही मुक्त करके स्वच्छ, निर्मल और अमृतमयी ज्योत्सना हमारे अन्तर और वाह्य में भर दे। हम स्वयं पुकार उठें कि मनुष्य केवल मनुष्य नहीं, वह ईश्वर से भरपूर है, महान् है। हम कमज़ोर नहीं है, हम सन्त हैं, योगी हैं, महामानव हैं। कथनी और कोरी करनी में ही अपने को न उलझाकर हम वास्तविक रहनी में रहें। हमारी वास्तविक रहनी का स्थान मन, वचन और कर्म द्वारा ईश्वरमय है, सद्गुरूमय है। हमारी वास्तविक रहनी का स्थान अन्तर में ईश्वरीय प्रकाश (Divine Light) में व्याप्त है। हमारी समस्त वृत्तियों का स्वरूप ऊर्ध्व-मुखी है। जब हमारी रहनी ऐसी हो जाती है, तभी हमारे अन्दर ईश्वरत्व झलक उठता है। हम योगी हो जाते हैं अर्थात् तभी ईश्वर से मिलन की शुभ घड़ी आ पहुँचती है। तभी हम सफल और समर्थ होकर श्रेष्ठ एवं महान् स्तर पर जा पहुँचते हैं। हमारे पास वास्तव में कमी है सच्चे शिक्षक की, योग्य सद्गुरू की। हमारी कमी है उन पावन हाथों में स्वयं को पूर्णतय: अर्पण कर पाने की।

आज संसार की इस कमी को ईश्वर ने दूर कर दिया है। उसने हमें अलौकिक सहज-मार्ग, चलने के लिए और श्री रामचन्द्र जी महाराज (शाहजहाँपुर) श्री बाबूजी ऐसे अद्भुत सद्गुरू को धरणी पर उतार कर संसार को कृतकृत्य कर दिया है।

---

*

हम पै बन जाये कुछ ऐसी कि बिन आये न बने

मैंने सुना, 'वे' (बाबूजी) मुस्कुराते हुये मुख से कुछ कह रहे थे। हम सब बैठे उनकी मधुर वाणी का रसपान कर रहे थे। अचानक उन्होंने कहा कि "हम ईश्वर को बहुत शीघ्र प्राप्त कर सकते हैं। बस, बात इतनी सी है कि, हम पे बन जाये कुछ ऐसी कि बिन आये न बने।" सच पूछो तो बिन आये न बने की बात तो तार या पत्र के माध्यम से भी बन सकती है। यदि अपनी बीमारी का तार उन्हें (श्री बाबूजी को) दें, तो भी हो सकता है कि उन्हें बिन आये न बने। परन्तु वह तार से पुनः हाल पूछ सकते हैं और बिन आये बन सकती है। 'उन्हें' बुलाने के स्थूल उपायों से तो स्थूल एवज़ भी निकल आते हैं। 'उन्हें' बुलाने के लिये तो ऐसा सूक्ष्म उपाय चाहिये जिसका उनके पास कोई जवाब न हो और उन्हें बिन आये न बने। वह कौन चीज़ हो सकती है? तो उत्तर इसके समीप ही हमें मिल जाता है कि 'हमें लग जाये कुछ ऐसी, जो बिन बुलाये न बने', ऐसी पुकार जिसकी उन्हें पहिचान है। ऐसी वेदना भरी दिल की तड़प, जिसका वर्णन वेद भी न कर सका। इतना ही नहीं इनके दैविक-आविर्भाव को हृदय में सहेजनें वाली यह 'लगी' ही हमें उनके योग्य बना देने में समर्थ है। इसीलिये हमें इस साध (चाह) को हृदय में सँभालना है। उनका सन्देश और उनकी भेंट (ईश्वरीय गतियाँ) हम तक पहुँचाने वाली, और हमारी लगन को उन तक पहुँचाने वाली दिल की लगी तड़प ही सजग प्रहरी के समान है। हृदय की गहराई में डूबी पुकार एक दिन उनको हमारे अन्तर में उतर आने को मजबूर कर देती है।

साधना एवं आध्यात्मिकता का प्रारम्भ भी इस दिल की लगी (भक्ति) से ही शुरू होता है। जब बाबूजी हमें कुछ ऐसे भा जाते हैं तो दृष्टि के द्वारा वह हृदय में एक दिन उतर ही आते हैं। अनजाने ही दृष्टि उन पर ही टिक जाती है। हृदय दृष्टि की ज़ायदाद है। तब 'मालिक' की बातें, 'मालिक' की छवि का बखान एवं उनके गुणों की मिठास को भी हृदय में सहेजना शुरु कर देती है; और हृदय अनजाने ही 'स्वयं' को 'उन' पर बलिहार कर बैठता है। जब स्वयं को हम हार बैठते हैं तो अपने होने का भाव घटने लगता है और ईश्वर का समावेश होने लगता है। उस श्रेष्ठ

लक्ष्य के और इस सूक्ष्म साधना के मध्य में केवल मैं ही रहता है जो हमें उनसे अलग, उससे दूर रक्खे रहता है। धीरे-धीरे अभ्यास द्वारा दूरी समाप्त होने लगती है और हृदय में लगी लगन उनके सामीप्य को स्वयं में खींचने लगती है। एक दिन आता है कि यह लगन उनकी अत्यन्त सामीप्यता की दशा को हमारे हृदय में उतार लाती है। उस अतिशय आनन्द का अनुभव करके हम अपने को भूले रहने लगते हैं। हमारे कुल तन, मन एवं वृत्तियों का खिंचाव उनमें ही समाया रहने लगता है। यहाँ तक कि हमारे देखते-देखते हम मिटने लगते हैं और उनका महत् व्यक्तित्व या ईश्वरत्व हमारे में निखरना प्रारम्भ होने लगता है। हमारा कुल अस्तित्त्व जब हृदय में लगी भक्ति के सहारे अंतर में स्थित मालिक से बंधा रहने लगता है तब अनजाने ही हम वाह्यमुखी से अन्तर्मुखी हो जाते हैं। 'वह' हमें इतने अच्छे लगने लगते हैं कि हमारे ध्यान की डोरी केवल 'उनसे ही जुड़ी हुई है, ऐसी अनुभूति हमें लगती है। हमारा कुल उनके लिये बेचैन रहने लगता है। कहाँ है वह? कैसा है वह? कब मिलेगा वह? उनका पंथ निहारती हुई हमारी समस्त वृत्तियाँ ऊर्ध्वमुखी हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी पावन प्राण-शक्ति का प्रवाह अविरल रुप से हमारे अन्तर में मिलने लगता है। एक अपूर्व रहनी में, श्रेष्ठ आसन पर मन सदैव आसीन रहने लगता है। संसार के लिये आँखे पथराई सी रहने लगती हैं, क्योंकि दृष्टि जो उन्हें बुलावा देने गई, तो फिर लौटी ही नहीं। अन्तर से संसार का रंग उतरता जाता है और ईश्वरीय रंग चढ़ता जाता है। हमारी श्वाँस, प्रतिश्वाँस उन्हें बुलावा देती है पधारने का। प्रतिक्षण उनकी प्रतीक्षा में व्यतीत होने लगता है। प्रतिपल हमें उनके बिना भार मालूम होने लगता है। पलकों का नींद से बन्द हो जाना तो समाप्त ही हो जाता है। बस पलक उनके स्वागत में पाँवड़े बिछाये मौन सन्देशा अन्तर से अन्तर में भेजा करते हैं। जब पलकों ने नींद नहीं पहचानी, तो रात भला हमारे लिये कब होती है? जब रात का आगमन ही हमारे लिये समाप्त हो जाता है, तब दिन का भी अवसान हो जाता है। अँधेरा, उजाला दोनों ही समाप्त हो जाते हैं। अब दिन तो तभी आयेगा जब प्रियतम रुपी सूर्य उग आयेगा। उन्हें क्यों इतना विलम्ब लग रहा है? लगता है हमारे अंतर में अभी वह 'लगी' (लगन) पूरी तौर से नहीं लग पाई है। हमारे बुलाने में कहीं पर कोई कमी न रह पायेगी तब उन पे बिन आये न बनेगी। अब यह आतुरता सीमा लाँघने लगती है। धीरे-धीरे सीमा टूटना शुरु हो जाती है। इसी रहनी में रहते-रहते अनजाने ही उनसे दूरी की सीमा समाप्त हो जाती है और हम उनमें ही रहने लगते हैं। हमें अपना स्वरुप भी विस्मरण हो जाता है। हमें यह तक स्मरण नहीं रहता कि हम जीवित हैं या नहीं। हमारी

श्वाँस भी ठहरी है या चल रही है। तभी हमें अनुभव होता है कि उनकी श्वाँस का पावन एवं मधुर सेंक हमारे अन्तर में व्याप्त होने लगता है। वह सेंक-क्या कहा जाये उसके लिये? स्मरण आते ही शरीर रोमांचित होने लगता है। सुध तो रहती ही नहीं है, भूलूं भी तो क्या, यही वह चीज़ है, जिसके लिये कबीर ने कहा है-

"प्रेम गली अति सांकरी, या में दो न समाहिं।"

यही वह दशा है, जिसके लिये बाबूजी महाराज ने कहा कि 'हम पे बन जाये कुछ ऐसी-"। ऐसी दशा उतरती हम पे तभी है, जब हम उन पर न्यौछावर होकर स्वयं को दाँव पर ही नहीं लगाते, बल्कि हार बैठते हैं। हमारे कुल ध्यान का केन्द्र बाबूजी हो जाते हैं। और हमारी उनमें लय अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। लय अवस्था के आरम्भ होते ही हमारा मिटना शुरु हो जाता है। प्रियतम के डिवाइन व्यक्तित्व की अपने अंतर में अनुभूति पाने लगते हैं। हृदय का माध्यम भी छूट जाता है। वह कहाँ समा जाता है कौन जाने? किन्तु इस सूक्ष्म दशा का पता हमें तभी मिल पाता है, जब हमें अपने स्पर्श के स्थान पर उनके माधुर्यमय स्पर्श का अनुभव होने लगता है।

गहराई कुछ और बढ़ती है। उनके विशुद्ध व्यक्तित्व के निखार को अपने में समाया पाते हुए हम विभोर से रहने लगते हैं। यहाँ तक कि 'मालिक' की चर्चा सुनना तो दूर रहा, यदि उनका नाम भी कोई ले लेता है, तो हमारे अन्तर में कराह उठ आती है और हम आह भर कर हृदय थाम कर बैठ जाते हैं। जब यह अलौकिक रहनी हमारी सहज ही रहने लगती है, तब इसमें भी हमारी लय अवस्था आरम्भ हो जाती है। उनके अलौकिक ईश्वरत्त्व में अर्थात् उनकी सायुज्यता में हम प्रवेश पा जाते हैं। तुरीय अवस्था भी अतीत में खो जाती (लय हो जाती) है। अर्थात् तब हमें Reality अपनी वास्तविकता में प्रवेश देना शुरु कर देती है। Reality में प्रवेश पाते ही उसमें लय होने लगते हैं। हमें यही लगता है कि वास्तव में हम 'असल' Reality है। तब आन्तरिक महान् गतियाँ और इनकी वज़ह (ईश्वर) सब कुछ मिलकर एक हो जाती है। हमारे चारों ओर न संसार होता है, न आध्यात्मिकता का पसारा होता है। बल्कि हम में R eality का ही पसारा मिलने लगता है। यह क्या चीज़ है? कैसी है? इसका हमें पता नहीं होता है। हमारे सामने तो जो है, सो है। हम तो चकित से, Divinity (असल) में समा कर फैलाव पा जाते हैं। जीवन मुक्त हम तभी हो चुके थे, जब हम मिटे थे, मिटकर फिर बने थे जैसा बाबूजी ने बनाया था। अब लाज, शर्म,

मर्यादा, सभी कुछ साथ छोड़ जाते हैं। अब बारी आती है उनकी मर्ज़ी की कि अपने को हमारे सामने Reveal करें, लेकिन उन्हें खुलना ही पड़ता है। हमें विस्मृत सा, विमोहित सा देखकर मानों वह भी सब कुछ भूल जाते हैं। उनकी कृपा का सागर, बाँध तोड़कर अपनी वास्तविकता को खोलकर हमें अपने में समेट लेता है। कैसी होशियारी है उनकी कि वह कैसा है? हम यह न जान पायें अथवा सच पूछो तो हमारे जीवन को रखने के लिये वह हममें ही मिल जाते हैं। अब अपने श्री बाबूजी की वह लाइन चरितार्थ होने लगती है कि वह आया, क्योंकि उन पे बिन आये रहा नहीं गया। उनकी ही कृपा से मानों हम पे कुछ ऐसी बन गई कि उन्हें आना ही पड़ा। बात भी तो ऐसी थी कि:-

निगाहें दर पे लगीं हम उदास बैठे थे।
उनके आने की हम ले के आस बैठे थे॥

अब उनके विषय में हमें जो पता नहीं होता, उसका भी पता देते चलते हैं। हम लापता हुए को स्वयं में समेटते हुए अपनी सर्व व्यापकता में फैलाव देना प्रारम्भ कर देते हैं। भय पास नहीं फटकता, गति का पता नहीं, गन्तव्य का होश नहीं, उनमें ही समाये हुए हम बेख़ुदी में और ख़ुदी बेख़ुदी का दामन पकड़े हुए पैरते ही चले जाते हैं। कहाँ? यह तो वही जाने! कैसी दिव्यता हृदय में उतरती है कि वह ख़ुदी का दामन प्रियतम् का आँचल मालूम होता है। जैसे बहुत नन्हें बालक की माँ, बच्चे के दोनों ओर तकिया लगाकर काम करती रहती है, जिससे भोला शिशु यह समझता रहता है कि माँ उसके पास है। बिल्कुल ऐसा ही हमें प्रतीत होता है। अनजाने ही उनका आँचल पकड़े हुए हम उनके साथ ही चलते जाते हैं। कैसा खेल होता है। मर-मर कर जिये, फिर इस योग्य भी न रहें कि मर कर जी पाते। तो फिर शेष ही क्या रह गया? बाबूजी के कथन की वह लाइन कि 'हम पे बन जाये कुछ ऐसी कि बिन आये न बने' हृदय में ऐसी लगी, कि उसने कुल को स्वाहा कर दिया। हमने अपनी ही होली जलाई, तापी और अमरत्व पान कर महान् बन गये। लेकिन इस बनने की ख़ुशी ही क्या जब हम खुद ही खो गये। श्री बाबूजी का यह कथन भी सत्य हो उठा कि ''आध्यात्मिक गतियों के आनन्द का भोग भी यदि हममें है, तो भोग तो किसी न किसी हालत में रहा ही। मुझे तुम सबको इनसे अति परे अंतिम सत्य में योग देते हुये ले जाना है।''

इस हालत में संसार में रहने के लिये, यहाँ की रीति और व्यवहार की आवश्यक बातें समय पर हम में प्रवेश करके पुन: वापिस चली जाती हैं। लाज,

लिहाज, शर्म, मर्यादा, हँसी, ख़ुशी, मातम्, इत्यादि में हम कब कैसे शामिल हो जाते हैं, हमें पता भी नहीं चलता। अपार दैविक शक्ति, अमोघ इच्छा शक्ति का योग समय पर स्वत: ही हम में प्रवेश करके कार्य पूर्ण होने पर वापस चला जाता है। योग (उनसे) हमारा पूर्ण हो जाता है। लेकिन योग की यह ख़ुशी, वह आशा भरी प्रतीक्षा, वियोग की आर्तता, सभी कुछ समाप्त हो जाती हैं। हम कहीं नहीं होते और समस्त में होते हैं। आना-जाना, देना-पावना, कुछ भी तो नहीं रहता। किन्तु तड़प का एक बिन्दु कभी-कभी हमारे समक्ष आता है। वह भी यह बताने के लिये कि 'वह' भी हमारे लिये अपने को हार बैठा हैं। तभी तो दर्द कहाँ है? किसके है? इसका पता तड़प के उस बिन्दु का पीछा करने पर भी नहीं मिलता है। श्री बाबूजी की कही हुई यह लाइन बार-बार याद आती है कि "दर्द उठ-उठ के बताता है ठिकाना दिल का", लेकिन जब दर्द को ही उसका ठिकाना मालूम नहीं है, तो हमें वह क्या बतायेगा?

अब उनकी ही कृपा से, उनकी कही हुई लाइन कि "ईश्वर तब हमें शीघ्र मिल सकता है, जब "हम पे बन जाये कुछ ऐसी कि बिन आये न बने।" ऐसी आंतरिक रहनी में रहने से बात बन जाती है कि, हमें लग गई है कुछ ऐसी कि बिन बुलाये न बने। 'मालिक' सबके दिलों में ऐसी ही तड़प पैदा करें।

*

सुबह का भूला शाम को आ जाये तो?

एक वृक्ष की छाया में बच्चे खेल रहे हैं। कुछ दूर दूसरे वृक्ष के नीचे एक बालिका कुछ रूठी सी मुद्रा में खड़ी है और कह रही है- ''जब देखो तब- 'तेरा बाप, तेरा बाप' यह भी कोई खेल है? मैं नहीं खेलूँगी ऐसा खेल। गुच्चों मनाने आया, वह नहीं गई। मुनिया आई, वह नहीं गई, परन्तु उसके बिना बच्चों का खेल पूरा नहीं हो पाता था। ''अच्छा, कल से नहीं चिढ़ायेंगे। आ जा री रनियाँ।'' तब रानी साहिबा चली ऐंठ के। ''मेरे बिना तो जैसे तुम्हारा खेल नहीं चलता''। वह खेलने लगी।

झुटपुटा हो गया था। पक्षी अपने-अपने नीड़ों को लौट रहे थे। गायें चर कर जुगाली करती अपने घरों को लौट रही थीं। ''हमें भी घर चलना चाहिये। माँ रास्ता देख रही होगी।'' रानी ने कहा। वह घर गई। आते ही पुकारा-

''अम्मा! ओ अम्मा!! अरी, ओ अम्मा! कहाँ चली गई। मुझे बहुत भूख लगी है'' उसका मचलना सुनते ही माता दौड़ी आई। उसे गोद में उठा लिया और चूमने लगी।

''कहाँ चली गई थी अम्मा? खाना दे, भूख लग रही है।''

माता का मुख म्लान हो गया। कहाँ से खिलाये, क्या खिलाये लाड़ली को? ढूँढ़ा तो दो बासी तथा सूखे पापड़ से उठा लाई।'' ले, खा ले मेरी रानी।''

''मुझ पर रोज-रोज यह सूखे ठर्रे पापड़ नहीं चबाये जाते। कुछ और दे दो माँ। भला यह देख कितने छोटे-छोटे दाँत हैं और तू कहती है, ले खा ले यह सूखे पापड़। आखिर क्या, सारी दुनियाँ बस यही खाकर जीती है?''

''कहाँ मेरी रानी'' माता के अश्रु कपोलों पर लुढ़कने लगे।'' दुनिया यही खा कर जीती नहीं, मरती है।''

''कहीं भी तो नहीं। देखा है तुमने मुनिया, गुच्चों, जगदीश और सोनिया को? खूब सुन्दर जीते-जागते हैं। जहाँ-जहाँ मैं खेलने जाती हूँ, सब मुझे जीते ही मिलते हैं, मरा हुआ तो कोई नहीं मिलता है।''

''नहीं बेटी! हमारे नेत्रों पर एक झूठा आवरण पड़ा हुआ है, जिससे हम मुर्दों को भी जीवित ही देखते हैं, किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। हम सत्य और असत्य को पहिचानने की शक्ति खो चुके हैं या शक्ति उपयोग में लाते-लाते समाप्त प्राय हो गई है।''

माता के अश्रु सूख चुके हैं। उसके नेत्रों में एक दैवी ज्योति आ गई थी जिससे उसे सब साफ़ और स्वच्छ दिखाई दे रहा था।

और दस वर्षीय रानी? वह तो बराबर माँ का मुख देखे जा रही थी। क्षण प्रतिक्षण उसके चेहरे के बदलते रंगों को देख रही थी। उसे भूख मानो बिसर सी गई थी।

''अब हम लोगों को सूखे अन्न में रस नहीं टटोलना पड़ेगा मेरी रानी।'' रानी की बांछे खिल गई।'' तो हम लोग अब राजा हो जायेंगे? हाँ, माँ! जैसे तू कहानी में सुनाती है, वही वाली तू होगी रानी और मैं कौन? हाँ, याद आया।'' उनसे मुँह फुलाकर बड़े ऐंठ कर कहा- ''और मैं होऊंगी राजकुमारी रानी, परन्तु?'' वह तनिक अटकी और गला साफ़ किया ''हाँ, कहानी वाला राजा कौन होगा माँ?'' माँ का मुख रक्तवर्ण हो उठा। वह कराह सी उठी। उसके नेत्र कहीं टिक से गये। ''अच्छा माँ, तू मन मलिन मत कर। मैं जगदीश को राजा बना लूँगी।'' वह मुस्कुराने लगी।''वह तो राजा है ही मेरी बेटी! उसे तू क्या बना लेगी।'' वह तुनक गई।''बड़ा राजा है वह, भंगी कहीं का। रोज़ ही तो मेरे साथ लड़ाई करता है, मेरी चुटिया बाँध देता है, चुटकी काटकर भाग जाता है। बड़े आये राजा कहीं के। हाँ, ज़रा सुन्दर अवश्य है। सजा दूँगी तो राजा जँचने लगेगा।'' माँ मुस्कुराई।

''वह तेरा जगदीश है रानी और मेरा जगदीश समस्त संसार का स्वामी है।'' ''तब तू अब तक क्यों सूखे बासी पापड़ों पर तथा इस टूटी-फूटी झोपड़ी में गुज़र करती रही माँ? राजा के पास क्यों न चली?

''हाँ बेटी! मैं सचुमच उसे भूल गई थी। आज तू ने स्मरण दिलाया। अब हम तुम, दोनों चलेंगे अपने जगदीश के पास''। स्मृति में झटका लगते ही मानों हृदय में धक्का लगा, जो उसकी जीर्ण देह को चीरकर मुख से 'हाय' शब्द के रूप में बह चला। अब उसे याद आने लगा।

एक टूटी सी जीर्ण झोपड़ी, जिसमें सम्भव है वर्षा की एक बूँद को भी सहन करने की सामर्थ्य न रख सकने के कारण वर्षा से उसका आँगन व झोपड़ी एक

हो उठते। तब दोनों माँ-बेटी घास-फूस एकत्रित करके झोपड़ी के ऊपर डाल-डाल कर उसे स्वस्थ बनाने का उपक्रम करती। हाँ, और उनके इस परिश्रम से घुटनों में सिर देकर दीवार के सहारे टिककर रात्रि व्यतीत करने एवं अपनी गृहस्थी की सम्पत्ति फूटा सा तवा, छोटी सी एक लुटिया एवं एक छिद्रों वाली छोटी सी थाली को सम्भाल कर रखने को सूखी जगह निकल आती। और कपड़े? कहीं मुनिया की फटी फ्राकें और उसकी माँ की एक आध थिगरेदार धोती भी सूखी बच रहती।

कोई भी यह न जानता था कि भिखारिन के वेश में आज किसी कारणवश रानी रह रही थी। उसे स्मरण आया। वह रानी की ही समवयस्का थी। बड़ी धूम-धाम से उसका विवाह रचाया गया था। कैसी सजी-सजायी गुड़िया की तरह वह लग रही थी। उसकी माँ, बहिन तथा पड़ोसिनें भी ऐसा ही कह रही थी-''कैसी फूल सी सजी-सजाई गुड़िया है मेरी सोहनी।'' ऐसे राजा के घर ब्याह कर सोहनियाँ का भाग्य हँस उठा था और उसका तो सारा गृह ही जगमगा उठा था। उसे स्मरण आया।

जब वह स्वामी (ईश्वर) के घर आई, राजा हर समय उसे पलकों पर ही बिठाये रखता। और वह? उसने तो मानों नैनों के ज्योति बिन्दु में राजा को ही जड़ लिया था। बड़ी हँसी-खुशी भरा जीवन चला रहा था। अब उससे खेलने को रानी भी उसके पास थी। उसे लाड़-लड़ाते वह थकती न थी। धीरे-धीरे उसका आना-जाना पास पड़ोस में बढ़ने लगा (वह इधर-उधर बहकने लगी)। उसके नेत्रों की ज्योति केवल ज्योति रह गई। बहुत सुन्दर सौम्य थी ही, दिन भर अब पड़ोसिनें भी घेरे रहतीं और वह राजा की रानी भी तो थी। उसे यह शब्द इतना प्रिय था कि उसने अपनी लाड़ली को यह नाम ही दे दिया था, किन्तु अचानक- न जाने कहाँ चला गया। वह मस्त सो रही थी। उसे दीन दुनियाँ की खबर न थी। वह तो दीन को विस्मृत कर दुनिया में बह गई थी। सम्भवतय: इसी कारण दुनिया के थपेड़ों का भी रसास्वादन कराने के लिये राजा उसे छोड़ कर न जाने किस वन में जा छुपा था।

प्रात: हुआ। सूर्य भगवान् की सुनहरी किरणें मानों सोहनी का कंचन लूटने को उसके आँगन में पसर रही थी। न जाने क्यों कुछ स्वप्न सा देख कर हड़बड़ा कर वह उठ बैठी। देखा स्वामी नहीं थे। बहुत ढुँढ़वाया, किन्तु न मिले।

तब से?

आखिर धन कहाँ तक साथ देता। राजा चला गया तो राजस्व कहाँ तक रहता। धीरे-धीरे एक-एक कर घर की सामग्री, धन सब पेट की अग्नि-ज्वाला को शान्त करने में काम आने लगे। अन्त में एक दिन वह भी आया, कि रानी के साथ उसे भिखारी का वेश बनाना पड़ा। रूखा-सूखा अन्न और फटे चिथड़ों में गुज़र कर रही थी। ऐसी ही दशा में उस दिन झोपड़ी में सूखे पापड़ों के लिये झगड़ा हो रहा था, किन्तु अब माँ को अपने जगदीश का स्मरण आया तो सारे चित्र एक-एक कर नेत्रों के सामने से आ आकर ओझल हो गये। रह गया केवल जगदीश। उसे अपनी दरिद्रता भी विस्मृत सी हो गई। दोनों माँ-बेटी साथ-साथ झोपड़ी को त्याग कर अपने जगदीश की खोज में चल दीं। जो मिलता खा लेती। उन्हें सूखे, बासी की चिन्ता न थी। जो गाँव मिलता, उसी में रात्रि को वृक्ष के तने से टिक कर सो रहतीं। आगे-आगे माँ, पीछे-पीछे रानी चली जा रही थी। पहले रानी माता का हाथ पकड़े आगे-आगे चल रही थी, किन्तु अब न जाने क्यों माँ ने रानी को अपने पीछे कर लिया था। उसके पगों में स्वयं गति आ रही थी। सम्पत्ति (अपनापन) पीछे छोड़ आई थी, इसीलिये बोझ था नहीं। कोई अपना था नहीं सिवा रानी के और वह तो साथ ही थी, इसीलिये किसी की ममता-डोरी से उसके पगों में गाँठ न लग सकी थी। फिर रुकती तो कैसे? जगदीश की खोज थी।

इधर जगदीश का भी बुरा हाल था। सोहनी की स्मृति उसके मस्तिष्क से विलग ही नहीं होने आती थी। उसकी रानी भी अब बड़ी हुई होगी। दोनों माँ-बेटी न जाने किस दशा में होंगी। कौन उन्हें देखता-सम्भालता होगा। इसी विचार में लयलीन जगदीश भी चला आ रहा था। क्यों? सोहनी की खोज-खबर लेने। उसे अपने साथ अपनी मिल्कियत में ले जाने। उसकी दशा देख पीछे से कोई साधु गा उठा:-

"मेरा राम मुझे भजे जब, तब पाऊँ विश्राम"।

किंचित ठिठका, फिर चल दिया। और सोहनी? दिन भर चलती, किन्तु उसे पता नहीं कि इस संसार में चल रही है, या कहीं दूसरे संसार में भ्रमण कर रही है। राजा के स्मरण में लीन बेसुध सी चली जा रही थी। रानी जब कभी एकाध बात पूछती तो उत्तर दे देती,किन्तु अब रानी भी उसे अधिक परेशान न करती, क्योंकि वह भी समझदार हो चली थी। अचानक एक दिन एक स्थान पर रूककर सोहनी मानों मार्ग से ही कुछ बातें करने लगी। रानी ने पूछा- "माँ! किससे बात कर रही है?" तो मानों सहज से मार्ग ने ही उसे उत्तर दे दिया:-

''दर दिवार दर्पण भये, जित देखूँ तित तोय।
कांकर, पाथर, ठींकरी, भये आरसी मोय॥

एक दिन प्यास अधिक लगने पर रानी के साथ एक पनघट पर जाकर खड़ी हो गई। किसी ने पानी पिला दिया। एक ने कहा- ''कुछ उन्मादिनी सी है।'' किसी ने एक शेर सुनाया कि- ''अपने सिज़दे के सिवा ग़ैर का सिज़दा है हराम।'' वह चल दी। रानी भी बराबर साथ दिये जा रही थी। एकाएक सोहनी एक स्थान पर ठिठक कर खड़ी हो गई। लाज से उसके नेत्र ऊपर न उठते थे। रानी ने देखा तो सामने कोई खड़ा था, फिर दो हाथ आगे बढ़े और सोहनी को अपनी ओर खींच लिया। एक क्षण सावधान होकर सोहनी ने रानी की ओर देखा, किन्तु यह क्या? उसके हाथों में थी वह स्वयं और चरणों पर थी उसकी रानी। वह गदगद् हो उठी कि पीछे से कोई बोल उठा यदि:-

''सुबह का भूला शाम को आ जाये तो?''

उत्तर स्वयं जगदीश ने दिया- ''भूला नहीं कहाता।''

नोट:-

(रानी से तात्पर्य 'बुद्धि'। सोहनी से तात्पर्य 'सुरत'। जगदीश से तात्पर्य 'ईश्वर'। जब तक सुरत जागती नहीं, तब तक वह और बुद्धि रानी होते हुए भी भिखारिन ही है।)

*

प्रिसेप्टर

कौन होता है प्रिसेप्टर? कैसा होता है प्रिसेप्टर? हमारे श्रीबाबूजी ने ऐसा कहा था कि उसका अर्थ प्रशिक्षक शब्द के अतिरिक्त कुछ हो भी नहीं सकता। 'मालिक' में लय-अवस्था के किस स्तर तक पहुँचने पर 'मालिक' का यह कथन लागू हो सकता है? तो मैंने यही पाया कि जब हम श्रीबाबूजी को इस आत्मिक दशा की खबर देते हैं कि हम जिधर भी जाते हैं, एक पावन लहर, एक पावन शक्ति समस्त में व्याप्त हो जाती है, तब 'आपने लिखा था कि जब अभ्यासी इस हालत पर पहुँच जाता है तब ही उसे काम के लिए Permission देना चाहिये। क्योंकि जो शक्ति या धारा उससे वातावरण में फैल रही है, वह बेकार न जाये, उसे दूसरों के आत्मिक हित में काम में लाया जा सके। अभ्यासी की ऐसी मनः स्थिति हो जाने पर जब उसे Permission मिलती है, तब उसे काम में अड़चनें कम मालूम पड़ती है। ऐसी मनः स्थिति कब होती है? जब हम उनका स्मरण रखते-रखते 'उनमें' इतना लय रहने लगते हैं, कि हमें अपना ख्याल स्मरण दिलाने पर भी नहीं आ पाता है। ऐसा क्यों? क्योंकि 'मालिक' ने उसे ऐसा बनाकर खड़ा कर दिया, कि उसे कुछ होश ही नहीं है। जो जिया ही नहीं, वह मरण को क्या समझेगा। जो मरण को नहीं समझेगा, वह जीवन को क्या पहचान पायेगा? परन्तु जो जीवन और मरण को चरण तले दबाकर आकाश का भी उल्लंघन कर गया हो, उसे तो 'उस' वास्तविक तत्त्व की कुछ-कुछ पहिचान हो ही गई है जो कि तत्वों से परे है। अब वह क्या करे? अगर कर सकता है तो, जो भूले हुए हैं, उन्हें उसकी पहचान करवा दे। जो कठिन राह पर चलकर 'लक्ष्य' पर नहीं पहुँच पा रहे हैं, उन्हें 'सहज' सा मार्ग बताकर 'मालिक' से बख्शी हुई 'उनकी' Transmission Power का सहारा देकर, उन्हें ख़ुदी से छुटाकर 'उनका' दामन पकड़ा दे। प्रेम का मंत्र उसके हृदय में इस तरह जागृत करें कि उसके अन्दर भी तड़प का बीज पनप उठे। संसार में बेलगाव, बेलौस, सरल, सरस, दिव्य-ईश्वरीय रहनी में स्वयं रहता हुआ वह लोगों को तड़क-भड़क से निकालता हुआ, साँची एवं पावन रहनी से ऐसा सजा दे, कि 'प्रियतम' उस (अभ्यासी) को देखकर मुस्कुरा उठे। वह समझ ले कि 'उनके' (प्रिसेप्टर) बन्दे, जिन्हें उन्होंने अपनी श्वाँस-श्वाँस से पाला है, अपने प्राणों की आहुति

देकर, अपने खालिस हृदय में उन्हें याद रखकर तैयार किया है, वही हम 'उनके' महान्-जन-कल्याणकारी-पावन-क़ार्य में सहायक रूप में 'उनकी' मर्ज़ी के माफिक कार्य कर रहे हैं, जिन्हें वे प्रिसेप्टर कहते हैं। हम अपने को निखारते हुए समस्त को निखार लाने के कार्य में सफलता प्राप्त कर सकें ऐसी दिव्य रहनी अपनावें।

इसमें बहुत सी बारीकियाँ हैं, जो मुझे 'मालिक' का काम लगन-पूर्वक करते रहने के बहुत बाद में समझ में आई हैं। जब हमें श्रीबाबूजी ने Power दी और कह दिया कि तुम काम करो। तब मैंने पहले काम शुरु किया तो मुझे यही लगता था कि मेरे सोचने से Power जाना अर्थात् Transmission शुरु हो जाता था, लेकिन मुझे ऐसा लगता था कि वह Power मेरे अंदर-बाहर चारों ओर बिखरी हुई है अभी वह मेरी नहीं हो पाई है। ऐसा क्यों होता है? क्योंकि कोई भी आत्मिक-दशा 'मालिक' हमें प्रदान करें या किसी काम के लिये शक्ति हममें उतारें, तो पहले उसका Force बहुत होता है, जो अपने चारों ओर व्याप्त मालूम पड़ता है क्योंकि हम एकदम से उसे absorb नहीं कर पाते हैं लेकिन जैसे-जैसे उनका काम 'उनकी' इच्छानुसार जैसा कि 'वे' चाहते हैं, डटकर करते जाते हैं और दूसरी ओर 'उनमें' हमारी लय-अवस्था गहन होती जाती है तब हमारे अन्दर-बाहर की वह शक्ति हमारे अन्दर समाविष्ट होकर अत्यन्त सूक्ष्मता से समस्त में फैल जाती है। हमारा अन्तर जितना रिक्त व सूक्ष्म अवस्था लिये होगा, पवित्र होगा दूसरों की स्थिति उतनी ही स्वच्छता से हमारे समक्ष में आयेगी। जितनी Reading स्वच्छ होगी, उतना ही हम श्रेष्ठ काम कर पायेंगे।

ऐसा ही दूसरे लोगों मे भी मैंने देखा है कि हमारे 'श्री बाबूजी' जब किसी अभ्यासी भाई को Permission देते हैं, तो वह काम तो करता है, लेकिन न उसे अपने काम पर Confidence होता है, न शक्ति पर दृढ़ता होती है। प्रिसेप्टर बार-बार Cleaning करता है, बार-बार Transmission जा रहा है, ऐसा ख्याल करता है, क्योंकि उसके Inner में दृढ़ता (Faith) नहीं आ पाती है। ऐसा क्यों? क्योंकि वह उनका नहीं हो पाया है। 'उनकी' देन को वह अभी अपना नहीं बना पाया है। 'उनकी' दी हुई शक्ति को पी नहीं पाया है। ऐसे ही एक दिन 'मालिक' में लय रहते-रहते वह Power चारों ओर से सिमट कर मेरे अन्तर में भिद गई थी। पहले दूसरे लोग जब मुझे Preceptor कहते थे, तो ऐसा लगता था कि Preceptor उनकी Power है, किन्तु जैसे-जैसे मैं 'मालिक' श्री बाबूजी में लय होने लगी,

मुझे लगने लगा कि Power सिमट कर मुझमें लय हो रही है। तब मैंने लिखा ''बाबूजी'' को कि आपकी Power मैं पिये जा रही हूँ। सच एक दिन ऐसा आया कि मुझे लगा 'उनकी' वह शक्ति अब मेरी देख-रेख में है। 'उन्होंने' तो तभी दे दी थी, लेकिन उसे अपना बनाने में, पीने में दो वर्ष का समय लगा। सच कहूँ तो जिस समय मुझे अनुभव हुआ कि कुल शक्ति मुझमें समा गई है, तभी से अगर मुझे कोई प्रिसेप्टर कहता था तो गलत न लगता था। लेकिन आश्चर्य की बात तब यह हो गई कि कुछ विशेषता लगना तो दूर रहा, ऐसा लगने लगा कि हृदय बिल्कुल खाली हो गया है, फिर से भिखारी हो गया है और पुन: आतुर प्रतीक्षा प्रारम्भ हो गई है। हाँ, अब काम का रूप बदल गया। अभ्यासी की उन्नति के लिये जिधर चाहो, जैसा चाहो, वैसा ही काम शुरु होने लग गया। Confidence भी इतना, जितना कि 'उनके' काम के लिए आवश्यक था और 'उनकी' दी हुई शक्ति को अपना बनाने के बाद होना चाहिये था, हो गया। मानों उस शक्ति पर अब मुझे Mastery हो गई थी। इतना ही नहीं, अब वह शक्ति मेरी स्वयं की आत्मिक-उन्नति में भी सहायक हो गई। उसे कुल पीकर ऐसा लगने लगा कि इससे भी कहीं विस्तृत शक्ति का मैदान मेरे सामने फैला है पी (लय हो) जाने के लिये।

अगर पहले वाली शक्ति को ही न पीवे, तो आगे क्या आता? 'उनकी' दी हुई शक्ति पर जब अधिकार लगता है तो साथ ही यह भी लगता है, कि अपनी शक्ति के साथ 'वह' स्वयं ही हमारे अन्दर समा गये हैं। तभी अभ्यासी के प्रति हमारे परिश्रम का प्रतिफल भी तुरन्त और सफल रूप में हमारे सामने आने लगता है। अपने लिये ऐसा लगने लगता है कि हम कुल मर मिटें, लय हो जायें। ऐसे भी आसार हममें पैदा होने लगते हैं। मुझे अच्छी तरह से याद है, जब हमारे 'श्री बाबूजी ने कहा कि मैंने तुम्हें Pind और Brahmand मंडल की Mastery प्रदान की, तब लगा कि असीम शक्ति मेरे अन्दर व बाहर फैली हुई है, जिसे अपना बनाना है। लेकिन सत्य यही है कि पिण्ड व ब्रह्माण्ड देश की शक्ति पर वास्तविक Mastery पाने में मुझे तीन वर्ष लगे। Mastery का अर्थ ऐसी रहनी हो जाता है कि शक्ति को यह नहीं मालूम कि वह शक्ति है, इसीप्रकार अपने अन्दर 'उनकी' शक्ति ऐसे सहज रूप में प्रवाहित रहती है कि हमें शक्ति रहने का एहसास कभी आता ही नहीं है। लेकिन तब Mastery हो जाने पर, जब भी हम अभ्यासियों के बीच में बोलते हैं, पूजा में बैठते हैं, तो वही हालत स्वत: ही समस्त में फैल जाती है। सामने बैठे हुए अभ्यासी और अन्य लोग उसे महसूस करते हैं, चाहे उसे पूरी तौर से कह न सकें। सांसारिकता में भी मैंने

अनुभव किया है कि जब हम दर्द या बीमारी दूसरों की सुनते हैं, तो कभी-कभी उस में ऐसे एकाकार हो जाते हैं कि वातावरण में और मानों स्वयं पर इसका प्रभाव पड़ता है। लेकिन 'उनकी' दी हुई शक्ति में 'उनके' सहित जब एकाकार हो रहते हैं तभी इसकी दैविक विशेषता भी प्रगट होती है।

प्रिसेप्टर के लिये एक बहुत आवश्यक कार्य है- Centres में Organization और Discipline फैलाना। सर्वप्रथम हममें से प्रत्येक को अपने को हर तरह से साम्य और सुव्यवस्थित हालत में रखना चाहिये। अन्तर की साम्यता वाणी में मधुरता, सहन शक्ति और हृदय में समस्त के प्रति अपनायत को लिये हुये हम कितने भी बड़े Centre को सुचारू रूप से सुव्यवस्थित बना सकते हैं, इसमें संशय नहीं है। किन्तु ऐसा तभी हो सकता है, जब हमारी रहनी में स्वयं 'मालिक' बाबूजी प्रवेश पा जाते हैं। तभी हमारा मन, बुद्धि व कुल अन्तर ऐसा Disciplined हो जाता है कि दूसरों के दोष की प्रतिच्छाया भी हमारे लिये प्रभावहीन हो जाती है और हमारा अन्तर-बाहर, जो एक समान दशा में फैला रहता है, उसकी प्रति छाया अभ्यासियों को बनाने में बहुत सहायक होती है। हमारी रहनी में कुछ ऐसा भोलापन रहने लगता है कि हमारी हर बात के लिये प्रत्येक के हृदय में मूल्य और आदर होता है। हमारा सहज मार्ग एक Practical आध्यात्मिक संस्था है, इसमें नियम के बन्धन से अधिक नेह का मूल्य है। संकुचितपन से दूर विराट् हृदयों की कीमत है। सौजन्यतापूर्ण पावन बंधुत्व का सहारा लेकर इसे सुव्यवस्थित एवं दृढ़ बनाया जा सकता है। जब हमारी रहनी में Divine समाया हुआ होता है तो हृदय व विचारों का संकुचितपन समाप्त हो जाता है। तभी हमारा Organization भी संकुचितपन से दूर व्यापक हो जाता है। हमारा हृदय कुछ ऐसा व्यापक हो जाता है कि प्रत्येक हृदय की ख़बर हृदय को मिल जाती है लेकिन Alertness या सजगता हममें रहना ही चाहिये। ऐसा किन्हीं Centres पर मैंने प्रत्यक्ष पाया भी है कि प्रत्येक अभ्यासी का हृदय प्रिसेप्टर के संकेत मात्र पाने के लिये लालायित रहता है। उनके कहने को पूरा करने में अभ्यासियों को बड़ी हार्दिक प्रसन्नता होती है। यदि प्रिसेप्टर की अन्तर की रहनी में Divine ही समाया रहता है तो Centres के वातावरण में वही दैविक महक फैलती रहती है, जो समस्त अभ्यासियों के हृदयों की उन्नति के लिये सहायक होती है। इसलिये हृदय की स्वच्छता, वाणी में मधुरता, यथोचित व्यवहार में पूर्णता किसी भी Centres को सुव्यवस्थित बनाने में सहायक होती

है। इसलिये हमें सजग रहना चाहिये कि जिस काम के लिये 'मालिक' ने हमें तैयार किया है, हमारे हृदय के संकुचितपन से कहीं वह ठिठुरा न रह जाये।

एक बात यह और आवश्यक है कि कभी ऐसा हो जाता है कि प्रिसेप्टर दूसरे Centre को पूजा का समय दे दिया करते हैं, तब उस Centre पर मालिक का बनाया हमारा बन्धु प्रिसेप्टर हमसे सहायता चाहता हो और हमने समय दिया है, तो डटकर परिश्रम करके उस Centre के अभ्यासियों की अन्तर्दशा को निखार भी लाना चाहिये।

सच तो यह है कि हमें अपने कार्य की सहायतार्थ तैयार करने का श्रीबाबूजी का ध्येय तभी पूरा हो पाता है, जब हम स्वयं विशुद्ध हालत में रमे हुए अपने अभ्यासी बन्धुओं के हृदय को 'उनकी' शक्ति का सहारा लेकर जितना भी शुद्ध एवं स्वच्छ कर सकते हैं, करें। लेकिन ऐसा हो तभी पाता है, जब हमें उसके सामने आने पर हृदय में उससे अपनायत पैदा हो। अपनायत से प्यार, एवं ऐसा Submissive हम अपने को Feel करते हैं कि फिर हमारा काम श्रेष्ठ ही होता है। इसकी प्रतिच्छाया (Reflection) उस (अभ्यासी) पर ऐसी पड़ती है कि Sub-mission रखना अनजाने ही वह सीखने लगता है जैसे हम Submission या लय-अवस्था 'मालिक' से धीरे-धीरे सीख पाते हैं। बहुधा जब हमसे यह ग़लती हमारे अनजाने होने लगती है कि हम अभ्यासी से कुछ Super अपने को समझ बैठते हैं तो एक प्रकार का Reservation उनसे स्वयं ही शुरु हो जाता है। इसका Reflection उन (अभ्यासियों) पर यह होता है कि वे हमसे खुल नहीं पाते हैं, पास बैठे हुए भी दूर रहते हैं। हमारे समक्ष आते ही उनके हृदय एक प्रकार का दबाव सा Feel करते हैं, जो हमारे काम में भी बाधक सिद्ध होता है और उनके evolution में भी बाधक होता है। चाहिये तो यह कि जब 'मालिक' ने हमारे लिये, अपने ऊपर जन-कल्याण के लिये अपना सब कुछ लुटा देने का मार्मिक बीड़ा उठाया है, कुछ भी Reservation रखना तो दूर रहा, बल्कि यह ध्रुव सत्य है कि हम; तिनके के समान को ऊपर उठाकर इस बात को प्रत्यक्ष कर दिया है कि- ''प्रेम की आँधी चली और तिनका उड़ा आकाश, तिनका तिनके सो मिला, तिनका (उनके हम) तिनके 'उनकें' प्रियतम के पास'' इसलिये हमें अभ्यासियों के प्रति अतुलित स्नेह को, हृदय में आदर ही नहीं देना चाहिये, बल्कि कुछ सीखना चाहिये। तभी तो हम 'उनके' उस ध्येय में जिसके लिये 'उन्होंने' हमें तैयार किया है, पूर्ण उतार पायेंगे। अपने को ऊँचा मानना उतना ही ग़लत है जितना कि प्रिसेप्टर का यह विस्मरण कर

देना कि हम अभ्यासी हैं। हम 'उनके' पूर्ण रूपेण हो सकें, उनमें पूर्णतय: लय हो सके, इसके सतत् अभ्यास की रहनी उतारने में हम लगे हुए रहें। एक हानि हमारी अनुचित रहनी में यह हो जाती है, जो कि हमारी उन्नति में बाधक बन जाती है और अभ्यासियों को उठाने में पूर्ण सहायता दे पाने में भी बाधक रहती है, वह यह होती है कि प्रथम तो जब हम स्वयं ही व्यापक नहीं हो पाते हैं, अर्थात् हमारा कुल फैलाव Divine नहीं हो पाता है, इसलिये हमारे हृदय में, विचारों में, बातों में एकप्रकार का संकुचितपना और ठोसता बनी रहती है और Transmission देने में एक खिंचाव सा अन्तर में बना रहता है ऐसा मैंने कई लोगों में स्वयं पाया है। सत्य तो ऐसा समझ लें कि हमारा 'मालिक' मानों एक कुशल Dancer की भाँति है। हम सब प्रिसेप्टर उनके पैरों में बँधे हुए घुँघरु हैं। 'मालिक' का जब मन चाहता है, एक कुशल Dancer की भाँति हम हज़ारों घुँघरुओं में से एक खनका (तारीफ़कर) देता है। अब यदि घुँघरू यह समझ बैठे कि यह खनक जो मालिक ने उसे बख्शी थी, यह उसकी खुद की है, तो क्या होता है कि वह स्वयं की ही आवाज़ पर रीझ जाता है। उसे यह पता तक नहीं चल पाता कि अब वह श्रीबाबूजी के स्वर में नहीं बोल रहा है; बेसुरा हो चुका है। इसका परिणाम आगे चलकर यह हो जाता है कि धीरे धीरे प्रियतम मालिक के पावन चरणों में उसकी कसन ढीली होना आरम्भ हो जाती है। एक दिन ढीला होते-होते वह इतना लटक आता है कि 'उनके' ही (प्रियतम के) पावन और कोमल चरण में चुभने लगता है। लेकिन उसे (प्रिसेप्टर को) इसका भी पता नहीं चल पाता। बहुधा मैंने पाया है कि 'मालिक' को इसकी टीसन प्रतीत भी होती है। इस रूप में कि "कहाँ तक हम इन्हें साफ़ करें"। इससे एक हानि हम और उठाते हैं कि 'मालिक' के चरणों से ढीले होकर बुद्धि का सूक्ष्म विकास एवं अन्तर की सतत् स्वच्छता हृदय की मुलायमता को हमारे में नहीं उतार पाती, इसलिये वाणी की मधुरता का भी ह्रास हो जाता है। परिणाम स्वरुप लोग 'मालिक' की पावन चीज़ Transmission लेने तो उनके पास जाते हैं, लेकिन उनके हृदय उन्हें अपना नहीं मान पाते हैं। उनकी निगाहों में जहाँ Preceptors के लिए हृदयों में विशुद्ध गरिमा, अनन्य बन्धुत्व के प्यार की स्वच्छता सहज व्यापक होती है, वह उनके हृदयों में पनप नहीं पाती है और धीरे-धीरे कम होते-होते समाप्त प्राय हो जाती है। कारण वही Natural है कि 'उनके' लिये अभ्यासियों के हृदयों में जो अनन्यता व्यापक थी, वह उसी सम्बन्ध को लेकर थी, जिससे Preceptors 'मालिक' के चरणों में दृढ़ता से बँधे हुए उन्हीं के स्वर में बोलते थे। जब स्वर ही बेसुरा हो गया तो सही फल की आशा भी व्यर्थ है।

हम उनकी देन को ग़लती से जो अपना मान बैठते हैं, उनकी कृपा को खुद की कमाई मानकर फूल जाते हैं, तभी से हम अपनी वास्तविक रहनी से फिसलने लगते हैं। हमें अपनी प्रार्थना की अंतिम पंक्ति सदैव चेतना देती है कि "बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है।" उसका दामन कसकर पकड़े रहना चाहिये अर्थात् हम 'उनके' कार्य में सहायक रूप में पूर्ण उतरते हुए अपनी आत्मिक-उन्नति की ओर सदैव ही अग्रसर रहें। उसी की धुन में रंगे रहें, कि हमारे दोनों पक्ष पूर्ण होते रहें- Preceptor का भी और अभ्यासी का भी। एक पंख के सहारे तो पक्षी भी नहीं उड़ सकता है, इसलिये 'उनका' कार्य और 'उनकी' प्राप्ति की खोज में, प्रतीक्षा में व्याकुल हुए हमें अपना यह साधना का दूसरा पक्ष भी पूर्ण कर पाने के लिये, 'लक्ष्य' में एक हो जाने के लिये, ध्यान में लगे हुए ही रहना चाहिए। ध्यान स्वयं ही एक दिन बता देता है कि उसका कार्य पूरा हो गया है। ध्यान भी व्यापक हो जाता है, वास्तविकता को हमारे समक्ष बिखेर कर शायद बाबूजी में ही समा जाता है।

हमारी पूजा ध्यान से प्रारम्भ होती है। ध्यान का अर्थ भी यही है कि हमें यह ध्यान रहे कि हम 'उनके' हैं, क्यों? क्योंकि हम 'उनके' ही थे। अब जिसके हम थे, उसका ही स्मरण हमें ध्यान में मिलता है। धीरे-धीरे जब ध्यान में तल्लीनता बढ़ने लगती है तो वही हालत उनकी प्राणाहुति द्वारा आत्मिक सम्बन्ध के रूप में हृदय में उतरने लगती है, मानों हम उन्हीं के सदैव से थे और हैं। यह मालिक की देन व कृपा है कि यह दैविक-दशा तुरन्त फैलना प्रारम्भ कर देती है। इसका सुन्दर फल हमें यह मिलता है कि हमारी Capacity 'उसकी' देन को अपने में समेट लेने के लिये और बढ़ती जाती है। यही तड़प का रूप बनकर हमारे हृदय में वह राह बनाती चलती है, जिसमें सतत् स्मरण बिछा होता है। 'उनके' पास बढ़ने की राह में आये शूल भी पुष्प बनकर हमारे सामने आते हैं और हम समस्त का अतिक्रमण करते हुए ध्यान में उस याद की ताज़गी पाये हुए कि हम 'उनके' थे और 'उनके' हैं, सदैव अपने को ताजा व हल्का-फुल्का पाते हैं। सच में ध्यान वह कड़ी है, जो हमारे दैविक लक्ष्य, कि हम जहाँ से आये हैं, वहीं लौट चलें, का सतत् स्मरण देती रहती है। कभी हम भूलते हैं तो हमें झटका सा प्रतीत होता है। कभी हम किंचित गहराई से जुड़कर पुन: थोड़ा बाहर होते हैं, तब भी हमें झटका सा प्रतीत होता है, जब हमारे मार्ग के सारे झाड़-झंखाड़ साफ़ हो जाते हैं तब हम स्वयं ही हृदय से

लेकर लक्ष्य तक एक स्वच्छ 'सहज-मार्ग' को प्रत्यक्ष पाने लगते हैं। झटके जो हमें प्रतीत होते थे, समाप्त हो जाते हैं, तब हमारी गति, बंधन को तोड़कर अप्रतिम हो जाती है। 'उसके' दर्शन की आतुरता भरी अत्यन्त प्रतीक्षा में, हमारा रोम-रोम आँख बन जाता है, हर आँख उन्हें पी जाना चाहती है, 'उन्हें' अपने में उतार लाने को आकुल-व्याकुल रहने लगती है, तब इस दशा में उन्हें उतरना ही पड़ता है, अपने शिशु को अपने हृदय में सटाये रखना ही पड़ता है। इसलिये हमारा पुनीत कर्त्तव्य है कि हमें जब उन्होंने कृपा करके Preceptor बनाया है तो हम उनके काम में पूर्णतय: सफलता पूर्वक हाथ बंटा सकें, ऐसे बनें कि स्वयं उठते हुए अभ्यासी बन्धुओं को उठाने में सहायक बन सकें। 'मालिक' ऐसा ही करें।

*

सुख तो है लेकिन चैन नहीं

अचानक वीणा के तार झनझना उठे। उसके वीणा वादन में बड़ा ही आकर्षण था। उस वीणा के स्वरालाप की मोहनी रागिनी जिसके भी कानों में पड़ती है, वही विभोर हो उठता। और?

और वादन करने वाले के दर्शन कर सबके मन-मयूर नाच उठते। उन उंगलियों में वह जादू था, जो वीणा के तारों पर पड़ते ही मानों मोहनी मंत्र फूँक देता।

वह भी चली आ रही थी।

"भुवन! सुन तो कितना सुमधुर वीणा-वादन है। भइया कान लगा कि यह ध्वनि किधर से आ रही है? रुका नहीं जा रहा है। ऐसा लगता है कि मन बरबस खिंचता चला जाता है।"

"माँ! होगा! हमें क्या! वीणा बजती है तो बजने दे। तार झनझनाते हैं, कानों में पड़ते हैं तो पड़ने दे। गरीबों को किसी सुमधुर आलाप से क्या मतलब? हमारा संसार सीमित है। उससे आगे हमें डग नहीं बढ़ाना चाहिये। मन की डोर खींच ले माँ! उधर न जाने दे। नहीं तो केवल दु:ख ही दु:ख हाथ लगेगा माँ! वहाँ के प्रकाश से हमारी आँखें चकाचौंध हो जावेंगी, हमें दिखाई भी न पड़ेगा। फिर कैसे चलेंगे? माँ वहाँ न चलें। रहने दें।"

"जरा सा सुन ही लेंगे तो क्या होगा, भइया? भला फिर हमें यह ध्वनि कहाँ सुनने को मिलेगी?"

"एक बार सुन ही लेगी तो क्या? मन पुन: पुन: वही ध्वनि सुनने का आग्रह करेगा तो कैसे समझायेगी? इसलिये पहले ही क्यों न सावधान हो जा, माँ! एक बार रसपान कर फिर सूखा अन्न किसे रुचिकर हो सकता है? वर्षा के बाद ताप असहनीय सा हो जाता है, पहले नहीं। मिठाई, मिर्च खाने से पहले ही सुस्वाद लगती है। सोच ले, समझ ले माँ! फिर जैसी तेरी इच्छा हो।"

किन्तु माता का मन न माना, क्योंकि वह परवश जो हो चुकी थी। उसकी चेतना तो उस मोहनी तक पहुँच कर वहाँ कुछ खोज रही थी। पग उसी मोहक

ध्वनि का अनुसरण करते-करते उसके द्वार तक जा पहुँचे और पीछे पीछे था उसका भुवन।

एकाएक वह कुछ ठिठकी, किन्तु क्षणिक था उसका ठिठकना। अब वह प्रहरी से अनुमति लेकर जीना चढ़ रही थी। प्रहरी ने भी उसे दीन देखकर अनुमति दे दी, क्योंकि उसे आदेश ही ऐसा था। दोनों ऊपर पहुँचे।

अपार वैभव था। विलक्षण सज-धज थी। ऐसी चमक कि आँखें चकाचौंध होने लगती थी।

आगे बढ़ी। देखा, एक विशाल कमरे में एक अद्भुत लावण्यमयी युवती मुस्कुरा रही थी। वीणा-वादन समाप्त हो चुका था। परन्तु उसकी मधुर मुस्कान ने माता के मन को जीत लिया था और बेचारा भुवन?

वह तो सब देखता, सुनता था, किन्तु उसकी स्मृति मानों सोई सी जा रही थी। नेत्रों पर झिलमिल आवरण सा पड़ता जाता था। वह समझ ही नहीं पाता था कि उसे क्या हुआ जा रहा था।

युवती! अब भी मन्द मन्द मुस्कुरा रही थी।

अचानक एक वीणा-विनिन्दित स्वर उनके कर्ण कुहरों में पड़ा। तब नींद से जागने की भाँति चौंककर उन्होंने उसकी ओर देखा, तो देखते ही रह गये। धीरे धीरे वे जागे, किन्तु अपने संसार में नहीं, युवती के संसार में।

युवती कह रही थी। ''भाई, क्या है, क्यों कष्ट किया? और यह तेरा बेटा?''

''हाँ, यह मेरा बेटा, इकलौता लाल।'' ....

देख भुवन मैंने कहा था न कि वहाँ आनन्द ही आनन्द बरसेगा। दरिद्रता दूर हो जायेगी। कितनी अच्छी है भोली सी यह बिटिया मेरी।'' कहते-कहते माता के हृदय में मानों वात्सल्य जाग उठा।

भुवन मुस्कुरा रहा था और बिटिया भी मुस्कुरा रही थी किन्तु दोनों मुस्कानों में अन्तर था। एक की मुस्कान हार-मिश्रित थी और दूसरी विजय-भरी।

''भाई, तुम अब दरिद्र नहीं और न तुम्हारा लाल। अब जो मेरा वैभव है, वही तुम्हारा और भुवन का। तुमने मुझे अपनाया है, फिर तुम दुःखी कैसे रह सकती हो माई।''

भुवन बुदबुदाया, "दुःखी तब नहीं थी, अकिंचन तब नहीं थी, माँ! अब हुई।" किन्तु उसके शब्द मानों उसी के मुख में रह गये। उन्हें किसी ने न सुना। हाँ, युवती उसे देखकर मुस्कुरा दी। उसकी जीत जो हुई थी।

अब उसका संसार नया था। माता पुत्र ठाठ से रहते। मखमली गद्दे, तोशक व तकिये उनका बिछौना था। अनेकों दास, दासियाँ उनके इशारे पर नाचने वाले थे। युवती तो माई को वैभव सौंपकर मानों निश्चिन्त हो गई थी।

और माई? प्रायः अचेतन सी उसमें लिप्त हो गई।

और भुवन? वह बहुधा अनमना सा दीखता तो माँ उसे भाँति-भाँति के ऐश्वर्य से बहलाया करती। अब उसे चिन्ता थी तो केवल एक बात की कि उसका भुवन अब बड़ा हो गया था और शिक्षित सुन्दर युवक। युवती भी माई से अकेले में बैठकर भुवन दा को एक नन्हीं, मुन्नी दूध के फेन सी सुकोमल युवती के आँचल से बाँधने का हठ करती। न जाने क्यों वह डरती थी, तो भुवन दा से।

और भुवन निडर था तो केवल चपला बहिन से। किन्तु यह रहस्य था, जिससे माई, दास, दासियाँ, पास-पड़ोस सभी अनभिज्ञ थे। हाँ, जानता था तो भुवन का पिता।

युवती ने दा का परिचय जानना चाहा तो उसने केवल इतना कहकर टाल दिया कि पिता के नेत्रों में वाह्य-नेत्रों के वैभव का महत्त्व न था, जबकि माता के लिये यह भी महत्त्व-मय था। सम्भव है इसी कारण अचानक एक दिन कैसे उसने माँ को इसे देखने, उस महत्वाकांक्षा को पूर्ण करने के लिए वीणा के स्वर का अनुसरण कराकर यहाँ तक पहुँचा दिया। और पिता? वह स्वयं कुछ न बोला, किन्तु पुत्र की वाणी ने मानों उसे ऊँच-नीच सुझाया, किन्तु माँ की तो चेतना ही लुप्त हो चुकी थी, फिर कैसे समझती?

और भुवन? वह माता के निरीक्षण के ही लिये उसका साथ न छोड़ सका। यद्यपि पिता के स्मरण में उसे चैन न था। अनमना सा हो जाता था।

और युवती? उसका तो स्वामी मानों उसे अपार वैभव की स्वामिनी बनाकर अपनी दूसरी पत्नी के साथ निश्चिन्त सा हो गया था। फिर भी अद्भुत था कि दोनों में परस्पर सगी बहिनों की तरह अपार स्नेह था और था भी ऐसा ही। डाह या ईर्ष्या का नाम न था, इसलिये मनोमालिन्य न था। आनन्द से दिन बीत रहे थे।

एक रात्रि मानों वह स्वप्न सा देख रहा था कि एक सौम्य युवती कह रही थी- "भुवन दा! क्या मेरे गृह में नहीं आओगे? कब से तुम्हारी बाट जोह रही हूँ। आओगे न भइया? अनमने रहते हो, फिर भी आते नहीं?"

"अवश्य आऊँगा। किन्तु करूँ क्या, माँ तो चलें। उसे छोड़कर मैं तुझ तक कैसे आऊँ? पूज्य पिता के चरणों में जाना चाहता हूँ।"

"तो भाई! मार्ग तो इधर से ही जाता है।"

"हाँ! उसे समझाऊंगा और कल प्रभात होते-होते उसके बन्धन तोड़ दूँगा। वेष बदल दूँगा। बस पिता को प्यारा अकिंचन वेष धारण कर लूँगा और मस्त फ़कीर की तरह चल दूँगा, जिसे न डेरे की चिन्ता है न चैन का होश। बहिन, धैर्य रख।"

सुन्दर सुप्रभात आया। भुवन उठा। माँ सामने थी, चरण स्पर्श किये।

"बेटा! तू अनमना सा क्यों रहता है? क्या तुझे यहाँ सुख नहीं? तुझे देखकर मुझे न जाने क्यों चैन नहीं पड़ता।"

"सुख? सुख तो अपार है माँ!" वह गुनगुनाया।

"तेरा मुख देखकर मुझे चैन नहीं पड़ता बेटा! तो वहीं चले जहाँ तुझे आनन्द हो, चैन मिले।"

बस दोनों चल पड़े।

बेटी ने बहुत रोका, किन्तु माई न मानी। उसका भुवन अनमना सा था न, फिर वह कैसे मानती। अकिंचन नगरी में, आनन्द की बस्ती लाँघते जाते थे। अब सुमधुर वीणा वादन उनका मार्ग न रोक सकता था।

घर आ गया। पुत्र ने पिता की सम्पत्ति पिता को सौंप दी। पिता मुस्कुराये। उनकी जिह्वा माता-पुत्र से एक ही प्रश्न का उत्तर माँग रही थी, कि "ऐश्वर्य में चैन मिला या नहीं?"

और माता? उसकी जिह्वा पर एक ही उत्तर था। "सुख तो है, लेकिन चैन नहीं।" और भुवन? वह तो मानों उन्हीं शब्दों में खोया सा जा रहा था। समस्त जड़ चेतन, समस्त वायु-मण्डल इसी एक ध्वनि में बेसुध सा था कि- "सुख तो है, लेकिन चैन नहीं।"

नोट :-

माता का तात्पर्य बुद्धि की चंचलता से है। भुवन से तात्पर्य आत्मा की चेतावनी से है। भुवन के पिता से तात्पर्य ईश्वर से है। वीणा वादन से तात्पर्य संसार में लुभाने वाली रागिनी से है। और युवती से तात्पर्य है अविद्या-माया तथा भुवन के स्वप्न की सौम्य युवती से तात्पर्य है विद्या माया। प्रहरी से तात्पर्य है अविद्या माया के द्वार पर अचेतन अवस्था।

*

उन्हें कैसे अपना बनायें

अचानक ही कोई दिव्य-महापुरुष कभी जी को ऐसा भा जाता है कि दर्शन करते ही 'उनका' अंतर-माधुर्य हमारे अंतर को भेदकर, अंतरिक्ष की ओर मोड़ देता है। लेकिन कब ऐसा होता है? जब हमारा 'लक्ष्य' केवल मात्र ईश्वर प्राप्ति ही होता है, और वह, जो दर्शन केसाथ ही हमारे अंतर में जागृति और संकल्प में दृढ़ता भर देता है, कौन हो सकता है? जिन्होंने केवल ईश्वर से योग ही नहीं किया बल्कि मैंने उन्हें ईश्वरीय शक्ति का सजीव-प्रतीक सा पाया है। जन के आत्मिक-कल्याण अर्थात् ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होने के हेतु वे अपनी पावन प्राण-शक्ति से उन्हें सहायता करने में संलग्न हैं। ऐसी ही दिव्य विभूति श्री बाबूजी पर हम स्वत: ही बलिहार हो बैठते हैं। क्योंकि हमारा जीवन-लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति, और उनके जीवन-उद्देश्य का योग-सूत्र (हमें ईश्वर मय बनाना) एक ही होता है। वह मिल गये हैं, तो हमें मिलना है।

मिलन की दिशा में सहज-मार्ग साधना द्वारा हमारा भी योग एवं ध्यान प्रारम्भ हो जाता है। हमारे परम प्रिय 'श्री बाबूजी' की पावन प्राण-शक्ति की संजीवनी मिली, और हम चल पड़ते हैं कहाँ? वतन (अंतिम-सत्य) की ओर, जहाँ से हम सब आये हैं।'उनकी' दैविक इच्छा-शक्ति और दैविक प्राणाहुति-शक्ति हमारी पावन-आध्यात्मिक यात्रा में 'प्रिय' से योग देने के लिये अचूक बैठती है। हमारी विचारधारा पलट जाती है। बजाय इसके कि यह संसार हमारा है का स्थान 'वह' हमारे हैं का विचार ले लेता है। हमारे वाह्य पर भी 'वे' और 'उनका' प्रभुत्व छाने लगता है। हमारी विचार धारा प्रथम तो उनके वाह्य से सम्बन्धित होती है फिर जहाँ भी दृष्टि जाती है, 'वे' ही दिखाई पड़ने लगते हैं। जब दृष्टि में 'वह' भर जाते हैं तो फिर संसार फीका दिखाई पड़ने लगता है, मानों दृष्टि में से संसार (Matter) का नक्शा ही मिट गया हो। हमारी दृष्टि अब 'उनके' पावन दैविक माधुर्य में पगने लगती हैं। एक दिन हम पाते हैं कि ''बेगि ही बूड़ि गई पखियाँ, अखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी।'' लेकिन 'उनका' दिव्य माधुर्य? इसका पता भला हमें कैसे लग सकता है, जबकि वह हमारे पते (हमारे होने के भाव) को भी हमसे लापता करने लगते हैं। बस ऐसा लगता है कि 'उनके' समक्ष अंतर ही अंतर में हम पसीजन से झुके हुए हैं मानों हमारे कुल अहं ने 'उन्हें' स्वीकार करके स्वयं को उनके पावन-चरणों में समर्पित कर दिया है। जब हमारा कुल अहं

'उन्हें' स्वीकार कर लेता है, तो फिर प्रतिक्षण हमें लगता है कि अंतर नत-मस्तक हुआ मानों पिघल कर उनमें ही मिलता (लय होता) जा रहा है अर्थात् लगता है अब श्रद्धा भी पूर्ण रूप से जागरूक होकर 'उनमें' ही समर्पित हो गई है। यह स्वाभाविक दैविक-अपनत्व है, जो आगेचल कर रंग लाता है, हमें बेरंग बना देने के लिये। हमारे हृदयान्तर में 'उनका' पतित पावन माधुर्य ऐसा छा जाता है कि हमें अनुभव होता है कि 'वे' हमारे हो गये हैं, इस अनुभव में कि वे हमारे हैं हमारा अहं माइनस रहता है और यही हाल विचार-धारा का भी होता है कि अहं के दबाव से वह स्वतंत्र हो जाती है। तब लगता है कि मानों एक झीना सा आवरण अंतर के इस अतिशय अपनत्व में पग जाता है और परमानन्द मय हो जाता है। विचार-धारा हल्की होकर सूक्ष्मता की ओर अग्रसर हो जाती है, अंतर में लय-अवस्था का अध्याय खुलने लगता है। अब अंतर में एक स्वत: खिंचाव के साथ ही हम भीना सा सेंक (Fomentation) भी बहुधा अनुभव करने लगते हैं, जो हमें याद दिलाता है, कि मिलन दूर नहीं है। हम 'उनके' हैं, मन ऐसे दैविक अनुभव का आनन्द उठाने लगता है। क्रमश: 'उनके' प्रति हमारे इस आंतरिक-अपनत्व का ध्यान भी विचार-धारा से मिटना प्रारम्भ हो जाता है या अनजाने ही इस आनन्दप्रद-अपनत्व का अधिकार भी हम 'उन्हें' सौंपने लगते हैं, अर्थात् यह दशा भी लय होने लगती है। विचार धारा भी सूक्ष्म होती हुई, उनकी ही हो जाती है। समर्पण की दोनों अंतर्दशायें मानों एक ही तार में गुँथ कर अपनी साम्य स्थिति में आ जाती है। Force समाप्त हो जाता है। माधुर्यमय 'वे' जिन्हें हम वाह्य चुक्षओं में समेटे बावरी दशा में घूमते थे, न जाने कब कैसे धीरे से चक्षुओं के द्वार से वे अंतर में प्रवेश पा जाते हैं। प्रकृति का यह कैसा प्राकृतिक दैविक विधान है, प्रेम की यह कैसी अनूठी स्थिति है कि जब हृदय में पूर्णरीत्या हम 'उनके' हो जाते है तब मानो सतत् स्मरण ने 'उन्हें' विवश कर दिया, चक्षुओं ने 'उन्हें' अपने में समेट कर निमंत्रण दिया, पलकों ने पाँवड़े बिछाये, अश्रुओं ने हृदयासन् को पखारा और प्राणाहुति ने सवाँरा, तभी प्रेम की डोर (योग) से खिंच कर 'वें' हृदय में आसीन हो जाते हैं। यह बाबूजी की दिव्यता है, महानता है कि जिस घड़ी से अंतरासीन होते हैं, उसी घड़ी से 'वे' अंतर में फैलने लगते हैं, अर्तात् तभी से हम अंतर में फैलाव अनुभव करने लगते हैं। संकुचितपन समाप्त होने लगता है। यहाँ तक कि हमारी विचार-धारा, बुद्धि एवं रहनी में से संकुचितपन दूर होने लगता है और हम व्यापक विस्तार का अनुभव करने लगते हैं। अन्तर में व्यापक होते 'मालिक' में हम अपने को स्वत: ही लयलीन रखने लगते हैं। अब यह हाल हो जाता है कि अन्तर दशा की छाया ही हमें वाह्य रहनी में भी प्रतीत होने लगती है और अंतर बाहर में हम पवित्र फैलाव अनुभव करने लगते हैं,

'उनके' विराट् में हमारा फैलाव होने लगा है, यह इस बात का द्योतक होता है। 'उनसे' प्राप्त प्राणाहुति की धारा हमारी रहनी की धारा को ही बदल देती है। अब तक वाह्य में फैली वृत्तियाँ, वाह्य के मल, विक्षेप, से अन्तर को मलीन बनाया करती थी और अब हम अनुभव करने लगते हैं कि जो पवित्रता, विशुद्धता एवं तेज अंतर में व्याप्त होता जाता है, उसकी ही छाया का आभास हमें जहाँ भी निकल जाते हैं, जहाँ भी बैठ जाते हैं, वाह्य में फैलता अनुभव होने लगता है। इतना ही नहीं, अंतर में विस्तार पाती 'उनकी' छवि (दिव्यता) से हमारा समस्त अन्तर जगमगाने लगता है और अन्तर का वातावरण एक अनजाने आनन्द से पुलकित रहने लगता है। मैंने पाया कि तब, जब भी दृष्टि अन्तर में जाती थी तो अन्तर स्वतः आनन्द से भरा-पूरा मालूम पड़ता था। लगा आन्तरिक-सत्संग 'उनका' मिलते ही प्राण-शक्ति का भी सतत् प्रवाह प्रवाहित रहने लगा। फिर कमी क्या रह गई? मेरे बाबूजी ने लिखा कि "बिटिया! लय अवस्था ईश्वर की बहुत बड़ी कृपा है, फिर भी दिल्ली बहुद दूर है।" जब कि 'उनके' अन्तर में फैलाव पाने से लगता था कि दिल्ली पहुँच ही गये हैं। 'उनके' इस कथन का तात्पर्य अब जब मैं उस स्थिति को याद करती हूँ तो लगता है कि उस स्थिति का अर्थ यह है कि मंजिल की याद हमारे अंतर में कुछ इस ढंग से समा जाती है कि चाह और दृढ़ता का ऐसा दिव्य सम्मिश्रण हो जाता है कि यदि चाह की ओर दृष्टि हो जाती है तो अन्तर, बाहर समस्त में चाह ही फैली मिलती है और दृढ़ता पर दृष्टि लग जाये तो लगता है कि मंजिल (प्रिय) अब मिल गई। प्रिय के मिलन की यह मृगतृष्णा अन्तर में तिलमिलाहट (तड़प) को जन्म देती है। तब हमारे परम प्रिय श्री बाबूजी का यह कथन कि जब मिलन की तड़प पैदा हो जाती है तो 'उसके' पास पहुँचने का मार्ग स्वयं ही बना लेती है, यह हमारे समक्ष प्रकाशित हो उठता है। अब सरल 'सहज सा मार्ग' समक्ष में मिलने लगता है। फ़ना अथवा लय अवस्था भी इस तरह से हो जाती है कि इसके बोध का बोझ भी उतर जाता है और सत्य रह जाता है। जैसा कि 'बाबूजी' ने मुझे लिखा था कि 'लय-अवस्था में परिपक्वता' (बक़ा) हमें 'मालिक' के दरबार से स्वतः ही मिलने लगती है यह कथन भी प्रत्यक्ष हो जाता है। हमारे अन्तर का कुल संचालन स्वतः स्वाभाविक रूप में कुछ इस तरह से 'वे' करने लगते हैं कि हमें यह तक पता नहीं लगता कि जो बातें 'ईश्वर-मिलन' (लक्ष्य) में आवश्यक थीं, अर्थात् प्रेम, भक्ति और ज्ञान, (अनुभव) की परिपक्वता, वे मन को ऐसी महत्-अवस्था तक लाकर एक-एक करके कब मालिक में स्वयं भी लय हो जाती है, इसका पता हमें तब मिलता है, जब अन्तर दशा की ध्वनि में स्वतः ही हम सुन पाते हैं कि 'बिना भक्ति तारों, तब तारिबो तुम्हारो है।' हमें लगता है कि 'उन्हें'

अपना पूर्णरीत्या बनाने में, 'वो तो जो हैं सो ही रहते हैं', हाँ हमारे अन्तर में कुछ ऐसा सटाव 'उनमें' ऐसा भिदाव सा होने लगता है कि हम एक सतत् पिघलाव सा अनुभव करते रहते हैं। क्योंकि हमें मिट कर वैसा होना होता है, जिससे हम 'उनसे' मिल सकें। अब 'उनमें' हमारी लय अवस्था एवं योग स्वत: ही ऐसा होने लगता है, जिसे हम मात्र अनुभव तो कर पाते हैं, परन्तु स्वयं कुछ कर नहीं पाते हैं, अर्थात करना (साधना) समाप्त होने लगता है, जैसे हमारा अहं पिघलता जाता है और उसके स्थान पर वे (डिवाइन) फैलते जाते हैं। अब केवल इतना ही नहीं होता है कि हमारे हृदय में 'वे' समाये रहें, बल्कि हमारे रोम-रोम में कण-कण में से अहं पिघल जाता है, इसके स्थान पर 'वह' समाने लगते हैं, व्यापक हो जाते हैं। और एक दिन? हम अपने 'श्री बाबूजी' को यह आत्मिक-दशा लिखते हैं कि ''कण-कण में है तस्वीरे यार, जब जरा गर्दन झुकाई देख ली।'' क्रमश: यह अन्तर्दशा भी लय होने लगती है और सीमा तोड़ कर उनके दैविक-प्रकाश से प्रकाशित होने लगती है। तब एक दिन 'उन्हें' कलम ने यह लिखा कि ''हमारा कण-कण हृदय बन कर आपको अपने में समाने को बेकरार हो गया है। कण-कण बिखर गया है। उत्तर में उन्होंने लिखा कि ''जब हृदय काबू से बाहर होने लगे तो पूजा की Coach के सामने बैठ जाना'' और सत्य ही ऐसा करने से दशा कुछ देर में ही काबू में आ जाती थी। परन्तु ऐसा कब हुआ था? अब मैं कहती हूँ कि जब कैदी अर्थात् Identity अपने होने का भाव भी समाप्त हो गया था। फिर अन्तर में बिराजे 'वे' यह दिन भी लाये कि यदि किसी में इस समय अंतर्दृष्टि होती तो वह देख पाता कि हमारे कण-कण में 'वे' ही विद्यमान हो गये हैं। फिर 'उनका' अनन्त रूप मुझे साम्यावस्था में लाने लगा अर्थात् अपनी सहजावस्था में आ गया। रोम-रोम में 'मालिक' एक समान रूप में विद्यमान हो गये। रूप-रूप में समा गया, अब न अपने रूप ही का पता रहा, न 'उनका' वह सलोना रूप ही रहा, बस 'उनकी' उपस्थिति व 'उनके' विस्तार ने मुझे अपने में भर लिया, समा लिया। अब लय एवं योग अर्थात् 'उनके' दिव्य दर्शन का प्रथम चरण पूरा हो गया। 'उनसे' मिलन भी हो गया, 'वह' हमारे हो गये। लेकिन अब? 'उनका' अंतिम-सत्य रूप हमें इससे भी परे खींचने लगा क्योंकि 'वह' अनन्त हैं न!

*

विश्व शान्ति के प्रति सहज मार्ग का योगदान

(यूरोप यात्रा के समय एक भाषण पर आधारित)

आजकल कुछ ऐसा वातावरण हो रहा है कि स्वभावत: लोग ईश्वर (God) या दिव्यता (Divinity(को भी मानने से इन्कार करने लगे हैं और शान्ति (Peace) जिसे वे चाहते हैं, वह उनसे कोसों दूर भाग गई है। इतनी दूर कि सोने में जो सहज शान्ति लोग पाते थे, वह नींद भी अब स्वाभाविक न रहकर उसके लिये भी औषधि (Medicine) नींद की गोलियाँ इत्यादि का सेवन जन-साधारण में शुरू हो गया है। अगर अशान्ति की यही रफ्तार रही तो वह दिन दूर नहीं जब कि लोग दो क्षण चैन पाने के लिये दिन में भी सोने की गोलियों का सेवन करना शुरू कर देंगे। मुझे आश्चर्य इस बात का है कि भौतिक-विज्ञान कीचरम सीमा में पहुँचे हुए इस ज़माने में किसी की दृष्टि खुद बनाई हुई चीजों से शान्ति पाने के उपायों के अतिरिक्त उस प्राकृतिक (Natural) शान्ति-धारा की खोज क्यों नहीं करती जो कि जन-साधारण से लिये प्रकृति का (Natural) स्वाभाविक वरदान् (Natural Gift) है। इसका कारण मुझे यही समझ में आता है कि ज़माना ख़ुद में ही खोया हुआ है, मनुष्य ख़ुद में ही सोया हुआ है और ख़ुद में भी इस तरह से सोया हुआ है कि खुद में ही भूला हुआ सा जागकर, थका सा, निर्बल सा, पुन: अपने में ही सो जाता है। मुझे ऐसा लगता है कि इस रचना में जहाँ अशान्ति का वातावरण बनाने वाले हम हैं, वहाँ शान्ति की अनवरत् धारा भी एक समान् और सतत् रूप में प्रकृति (Nature) की ओर से प्रवाहित मिलती है। लेकिन ज़माने ने कुछ ऐसा रंग बदला कि हर मनुष्य प्राकृतिक रंग (Natural Colour) से दूर होता चला गया और अपने ही बनाये रंगों से नई दुनिया बनाने लगा। अब अपनी दुनियाँ बनाने वाले हम ही हो गये। जब हम ही प्रकृति की (Natural) शान्तिमय धारा से अलग हो गये, तो फिर शान्ति की चाह में विवश होकर, अपने नये समाज, नये रंग, नई रचना बनाने के प्रयत्न में जुट गये, तो सच पूछो एक तरह से हमने प्रकृति (Nature) की रचना में से अपने को और भी अलग कर लेने की कोशिश की है। सहजता से इतनी दूर हट गये कि प्रकृति (Nature) की वह सहज शान्तिमयी धारा हमारी आँखों से ऐसी ओझल हो गई या हमारे अनुभव से ऐसी अलग हो गई कि हमें इसका पता ही नहीं चल पाया। परिणाम अब यही सामने दिखाई देता है कि शान्ति पाने के लिये कार्यशील होने पर

भी परिणाम-स्वरूप अशान्ति ही हाथ लगती है। सच पूछो तो मैंने देखा है कि सोने में भी लोग आराम (Rest) नहीं पाते हैं। क्योंकि विचारों का फैलाव रहता है। इतना ही नहीं ख़ुद तो बिगड़े ही, शान्ति से कोसों दूर हुए ही, वातावरण को भी ऐसा बिगाड़ दिया और इसकी सहजता एवं स्वाभाविकता को ऐसा साफ कर दिया कि उसमें भी बनावटीपन ही फैल गया। इस अन्तर का पता यदि हम देखें तो इस तरह से हमें पता चल सकता है कि अगर हम जंगल में या पर्वतों पर ऐसी जगह जाते हैं, जो मनुष्यों की बनायी हुई दुनियाँ से दूर हैं, तो वहाँ अभी भी किसी न किसी हद तक हम अन्तर में एवं दिमाग में आराम (Rest) का ज़रूर अनुभव करते हैं। ऐसी जगह जाने पर हमें नींद भी स्वाभाविक तौर पर ताज़गी देने वाली मिलने लगती है। इसका कारण यही है कि क्रिया और प्रक्रिया से परे हमारे बनाये वातावरण से अलग इन जगहों में प्रकृति की शुद्ध एवं शान्तिमयी धारा अधिक सूक्ष्म एवं गतिशील होने के कारण हम पर हावी हो जाती है। हमारे समस्त तनावों (Tensions) को दूर कर अपनी धारा से हमें हल्कापन प्रदान करती है। प्रश्न यह उठता है कि जंगल में जाकर वहाँ के वातावरण को भी अपने रंग में रंगने से अच्छा है कि वहाँ की शान्ति और आराम को हम अपने में खींच लायें। अनुभव के आधार पर आज मैं यह दृढ़तापूर्वक कह सकती हूँ कि इस कार्य में सहज-मार्ग-साधना बहुत कुछ हमारे इस प्रयत्न को पूर्ण करने में सहायक हो रही है। मैंने देखा है कि सहज-मार्ग के प्रणेता शाहजहाँपुर निवासी श्री रामचन्द्र जी महाराज की इच्छा शक्ति (Will Powder) और उनके द्वारा प्राप्त दैवी प्राणाहुति (Divine Transmission) मानव-मात्र के लिये शान्ति एवं सुख बनकर ही नहीं, बल्कि वरदान् (Gift) लेकर आयी है। एक बात इससे मुझे यह भी पता लगी कि ऐसा क्यों है, तो यही पता लगता है कि वह शक्ति जिससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई है, वह स्वयं अशान्ति के पलड़े को भारी न रखकर प्रकृति (Nature) में संतुलन (Balance) लाना चाहती है। तभी वह ऐसी दिव्य विभूति को भेजती है, जो उसकी इच्छा को जानकर उसकी शक्ति का प्रयोग प्राणी-मात्र के लिये कर सके। यह मेरा अपना दृढ़ एवं सत्य अनुभव है, कि जब हम इस सीमा तक श्री बाबूजी महाराज की दैवी प्राणाहुति (Divine Transmission) शक्ति की सहायता (Help) व उनकी इच्छा शक्ति (Will Power) के द्वारा समस्त तनावों (Tensions) से परे सहजता को प्राप्त करते हुए, अन्तर में उस सहज-शान्ति (Natural Peace) की धारा का अनुभव करने लगते हैं। उसमें ही डूबे रहने पर फिर ऐसी हालत आती है कि बाबूजी की उसी दैविक-प्राणाहुति शक्ति के द्वारा हम दूसरों की सहायता (Help) करने लगते

हैं। एक बात और हो जाती है कि इस दैविक इच्छा-शक्ति (Will Power) के पास हमें दिव्य शक्ति का भी संचार सतत् मिलना अनुभव होता है, जिसे कि दूसरों में संचारित (Transmit) करके उन्हें हम परम् शान्ति को प्राप्त करने के योग्य बना सकने में समर्थ हो पाते हैं, जब श्री बाबूजी हमें इस योग्य बनाकर आज्ञा प्रदान कर देते हैं।

जरूरत आज इस बात की है कि प्रकृति (Nature) की जो इच्छा (Will) हममें संतुलन (Balance) एवं शुद्धता (Purity) बनाये रखने की है, उसको देखते हुए उचित यही है कि कोई दिव्यता (Divine) के वातावरण को हमारे अन्तर में ही उतार कर हमें सतत् शान्ति का अनुभव प्रदान करता रहे। सहज-मार्ग साधना में श्री बाबूजी ने हृदय में दैवी (ईश्वरीय) प्रकाश (Divine Light) का विचार (Thought) देकर, उसमें तल्लीन (Absorb) रहने का जो तरीक़ा बताया है, वह इस बात का प्रमाण है कि हम दिव्यता (Divine) की वास्तविकता (Naturalness) में डूबे रहें। जिससे कि वाह्य में फैले असहज वातावरण (Atmosphere) में अपने को पालते रहने की हमारी आदत स्वत: ही छूट जाये। फिर भौतिकता का जो तनाव (Tension) एवं हमारे बनाये अस्वाभाविक रंग हैं, वे सब दूर होकर वह सहजता हमारे अंतर में पनप सके, जिससे कि हम सतत् शान्तिमयी प्रकृति धारा में पुन: प्रवेश पा सकें। उससे दूर हुए हमें इतना समय गुज़र चुका है कि दिव्यता ईश्वर (God) जिसकी यह प्रकृति (Nature) हमारे समक्ष व्याप्त है, वह मानों हमें बेगानी सी लगने लगती है। लेकिन कभी किसी ने यह भी सोचा है कि शब्द के इन दैविक सिक्कों (Coins) को कौन लाया और इनका प्रयोग क्यों और किसने किया। जब कोई ऊँचा उठता है तो क्यों हम सहज ही उसे संत महात्मा या योगी या महापुरुष पुकारने लगते हैं, जब कि वह भी हमारी ही तरह का एक साधारण इन्सान होता है। फिर कौन सी चीज उसके अन्दर से दूर हो जाती है और किस शक्ति से उसका योग हो जाता है, जिससे कि हम उसको पुकारने के लिये 'महा' या 'संत' ऐसे शाब्दिक सिक्कों का स्वत: ही प्रयोग करने लगते हैं। मेरी समझ में यही आता है कि जहाँ से हमारा 'मैं' दिव्य-शक्ति से अलग हुआ था वह पुन: उसी से योग पा जाता है। इससे ही वह हमसे भिन्न सा लगता है और उससे निकलती हुई दिव्य किरणों का अनुभव हमें उसे संत (Saint) या महापुरुष कहने को लाचार कर देता है। श्री बाबूजी का सहज तरीका इसी सहज रहनी को हममें उतार लाता है। जैसे जब हम गंगा में स्नान करते हैं तो विचार में यह सिमटाव रहता है, कि हम गंगा की पवित्र धारा में डूबे हुए हैं और हमारा भौतिक अस्तित्व जल की ठंढक का स्पर्श ओर प्रभाव अनुभव करता है जो हमें अंतर में शान्तिदायी मालूम होता है। इसी प्रकार

जब हम श्री बाबूजी महाराज के बताये तरीके से अन्तर में दिव्य प्रकाश (Divine Light) का विचार (Throught) लेकर प्रवेश करते हैं, तो एक तो विचार में दिव्यता (Divine) का योग रहने से भौतिकता का विस्तार विचार से सिमट कर दिव्य एवं साम्य (Balance) से सम्बद्ध रहने लगता है। दूसरे जब हम उस दिव्य प्रकाश (Divine light) में डूबने के अभ्यास से धीरे-धीरे सहज (Natural) एवं शान्तिमयी धारा के निकट पहुँचने लगते हैं, तब मैंने अभ्यासियों को ध्यान से उठकर यह कहते हुए पाया है कि आज बहुत शान्ति मिली। यद्यपि मैं जानती हूँ कि वास्तव में यह शान्ति (Peace) नहीं है, बल्कि आराम (Rest) है। जैसे कि हारे-थके धूप से आये मानव को यदि कोई शीतल छाया और एक गिलास ठण्डा पानी दे दे तो वह कहता तो यही है कि बहुत शान्ति मिली, किन्तु वास्तव में वह आराम है।

वास्तव में शान्ति की चाह मानव मात्र की एक स्वाभाविक आकांक्षा (Urge) है, लेकिन जिन तरीकों से जिस रहनी से यह प्राप्त हो सकती है, उससे वह बराबर ही दूर होता चला गया है। सच पूछिये तो अब बनावटी जीवन में बनाये नियमों एवं अपने बनाये वातावरण में अर्थात् स्व-रचित संसार में वह जी रहा है, फिर शान्ति क्यों कर प्राप्त हो सकती है। आवश्यकता केवल इस बात ही है कि अगर हम शान्ति चाहते हैं तो समस्त में प्रकृति से मिलते-जुलते गुण जो विद्यमान है, उसी की ओर हम फिर से वापस जायें, अर्थात् जहाँ से हम आये हैं, वहाँ ही फिर से लौट कर जाने का प्रयास करें। घर पहुँचने के लिये प्रकृति की शान्तिमयी धारा में ही प्रवेश करके परमात्मा अर्थात् ईश्वर (God) या दिव्यत्व (Divine) की ओर लौटना होता है। सहज-मार्ग के तीसरे नियम में हमारे श्री बाबूजी ने जो लिखा है कि "हमारा जीवन ऐसा साधारण होना चाहिए कि आदि प्रकृति से मिल-जुल जावे।" इसका अर्थ जब ईश्वरीय-दशा के रूप में मेरे अन्तर में उतरा तब मैंने यही पाया कि मानों कण-कण एक ऐसी विशुद्ध सादगी का स्वरूप हो गया है कि जिसके लिये शब्द का प्रयोग करना भी उस पर बनावट का आवरण मालूम होता था। यह स्थिति (Condition) मैं तभी देख पायी जब कि उसको देख पाने के लिये अन्तर-दृष्टि के अलावा और कोई दूसरा औज़ार न रहा। प्रकृति की प्रकृति (Nature) को पढ़ पाने के लिये अन्तर-दृष्टि तभी वैसी हो जाती है, जबकि हमारे अन्तर की रहनी उसी विशुद्ध प्रकृति (Nature) से मिलती-जुलती सूक्ष्म अर्थात् दिव्य (Divine) हो जाती है। मैंने तमाम लेखों (Articles) में लिखा है कि अन्तर में मुझे दिव्यता (Divine) की सामीप्यता का सतत् सेंक (Fomentation) का अनुभव होता रहता

है, किन्तु उसको नापने के लिये मनुष्यकृत कोई थर्मामीटर नहीं बनाया जा सकता है। बल्कि यह केवल अनुभव किया जा सकता है। प्रकृति (Nature) के हर भेद को मनुष्य समझ सकता है, पढ़ सकता है, दर्शन (Vision) कर सकता है, जब कि वह अन्तर में दैविक प्रकाश में निरन्तर रहने का अभ्यास करता है और उसकी साधना में सद्गुरू श्री बाबूजी द्वारा प्राप्त दिव्य-प्राणाहुति शक्ति का सतत् प्रवाह मिलता रहता है। तभी मैं आज यह कह सकती हूँ कि केवल अन्तर से ही नहीं, वरन् मानव के रोम-रोम से असहज-अवस्था या ठोसता (Grossness) एवं तनाव (Tension) पिघल-पिघल कर बराबर दूर होता चला जाता है। तभी एक दिन वह सूक्ष्म दशा अवश्य आती है कि ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सके। आज यह सत्य प्रकाशित भी हो चुका है और श्री बाबूजी महाराज की पावन प्राणाहुति (Transmission) और इच्छा-शक्ति द्वारा मानव मात्र के लिये भी सहज-मार्ग द्वारा सुलभ हो चुका है। मैं तो यह भी कहती हूँ कि आगे चलकर अनुभव के लिये 'हम' भी शामिल नहीं रह पाते हैं, बल्कि अनुभव की दृष्टि उसे पढ़ती हैं और 'हम' केवल साक्षी मात्र हुए रह जाते हैं। चाहने पर भी हम भोक्ता नहीं रह पाते हैं। मैंने देखा है कि सूक्ष्मता की दशा की एक सीमा तक पहुँच कर सूक्ष्म अहं का बन्धन (Bondage) भी टूटकर बिखर जाता है, समस्त में मिलकर सर्वव्यापकता में फैल जाता है। एक भेद मैं जरूर यहाँ पर खोलूँगी कि जब मैंने अपने को समस्त में व्याप्त होते देखा तो व्यापकता तो वहाँ पहले से ही व्याप्त थी, बस मैं उसमें मिलकर एक हो गई। जिसमें मिलकर एक हुई उस हालत (Condition) या शक्ति के लिये दिव्य ईश्वरीय गति के अलावा कोई शब्द हो नहीं सकता है। आज मैं यह कह सकती हूँ कि इस हालत पर आ कर ही शब्द कोष में इसके लिये दिव्य शब्द को जोड़ा गया होगा। आध्यात्म् क्षेत्र में ईश्वर (God) हो अथवा दिव्यता (Divine), इन सबके लिये भीतर एक परम-शक्ति की दशा का अनुभव मैंने पाया है। शान्ति (Peace) का अर्थ वास्तव में ईश्वर की (Divine) शुद्ध छाया की दशा ही हो सकता है। यह दिव्यता (Divine) से अलग हो ही नहीं सकती है। एक दिन मैंने श्री बाबूजी महाराज को लिखा कि 'आत्मा के समक्ष पड़े समस्त आवरण साफ होने पर मुझे ऐसा लगा कि वास्तविक शान्ति (Peace) स्वत: ही हमारी रहनी में समाकर सतत् एवं समान रूप से प्रवाहित हो गई है। तब जहाँ कहीं भी मैं निकल जाती थी, लगता था कि शान्तिमय-धारा चारों ओर प्रवाहित हो जाती थी और यह अनुभव हर अभ्यासी को मिला। इस दशा पर जाकर वास्तव में हम शान्ति (Peace) के भिखारी नहीं रह जाते, वरन् हम इसके दाता हो जाते हैं। यहाँ पर मैं यह कह सकती

हूँ कि श्री बाबूजी महाराज का यह कथन प्रत्यक्ष हो जाता है कि वे शिष्य तैयार नहीं करते, बल्कि मास्टर (Master) दैविक शक्ति के तैयार करते हैं।

आज मैं इस Realaity को भी पूरी तरह से खोलकर कह सकती हूँ कि जब दिव्यता का साया (Reflections) अभ्यास द्वारा ईश्वरीय गति में लय हो जाता है तब एक दिन (Soul) आत्मा का आवरण हटते ही ईश्वरीय-धारा हममें स्वत: ही प्रवाहित हो जाती है, वही सतत् शान्ति (Peace) की धारा है। तभी हमें यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि वास्तव में शान्ति-मई धारा प्रकृति (Nature) में सतत् एवं समान रूप से प्रवाहित रहती है। हम तो इसके विपरीत जीवन रहनी में रहते हुए इससे दूर बहुत ही दूर हो चुके हैं। यहाँ तक की सत्य की छाया (Reflections) से भी हम अलग होकर अपने अहं के बन्धन (Bondage) में घिर कर कैद हो गये हैं। अपनी कैद में रहते हुए फिर अपने में ही नज़रबन्द होकर अन्तर-दृष्टि को खो बैठते हैं। व्यापक, विशुद्ध एवं सूक्ष्म अन्तर-दृष्टि पर आवरण पड़ते जाते हैं। समय और वातावरण के प्रभाव से यह दूरी इस हद तक बढ़ जाती है कि हर मानव हृदय एक दुनिया बन जाता है। इसीलिये किसी की दुनिया, किसी से मेल नहीं खाती है। विचारों के वैमनस्य आपस में वैमनस्य को जन्म देते हैं। अन्तत: मानव-अन्तर पतन की ओर ही उन्मुख हुए चला जाता है। यथार्थता (Reality) से बढ़ी हुई दूरी गुनाहों को जन्म देती है। अनन्त या Ultimate से दूर होकर सीमित अहं के दायरे में घिर कर विचारों एवं व्यवहार में संकुचित पन की सड़न पैदा हो जाती है।

संसार में समयानुसार मानव को शान्ति देने की उपायों को लिये हुए महापुरुष हमेशा ही आते रहे हैं और आते रहेंगे, क्योंकि प्रकृति (Divine) भी ऐसा ही चाहती है। यह जरूर है कि समय के पतन के साथ बताने वाले भी कुछ ऐसे हो जाते हैं, जो सांसारिक वस्तुओं के चमत्कार का प्रलोभन देकर शान्ति-हित-तृषित मानव हृदयों को अपनी ओर खींच लेते हैं। मैंने देखा है कि सही एवं शान्तिमय सहज-मार्ग की खूबी समझ में आने पर भी, उनके बुझे अन्तर भय के मारे आगे सोचने से भी मजबूर रहते हैं। हमारे श्री बाबूजी का कथन मुझे बार-बार याद आ जाता है कि ''संसार तो स्वयं ही दैविक चमत्कार है, यदि चमत्कार दिखाना ही है, तो उससे ऊँचा चमत्कार दिखाना चाहिये। चमत्कार अर्थात् संसार में रहते हुए मुक्ति की अवस्था देना तो ठीक है, किन्तु उससे छोटे चमत्कारों को दिखाकर मानव को भुलावा देना किसी भी कीमत पर उचित नहीं है। सहज-मार्ग की यही विशेषता मैने पाई है कि एक ओर जहाँ साधना पक्ष है, तो दूसरी ओर सिद्धि पक्ष भी परिणाम स्वरूप हमें तुरन्त ध्यान में मिलने लगता है। हमें यह पता चलता है कि

हमारा अहं (Self) दिव्य-प्राणाहुति (Divine Transmission) के (Formentation) सेंक से पिघलकर हमें उस विराट् ईश्वर में मिलाता जा रहा है। जैसे पानी में बर्फ के टुकड़े को डाल दें तो धीरे-धीरे पानी का वह ठोस रूप बर्फ का टुकड़ा पुन: पिघल कर पानी में ही मिलता चला जाता है। श्रेष्ठ मानव के वास्तविक विराट हृदय में उसकी (Divine) की सामीप्यता के सेंक से ठोसता या भौतिकता पिघल कर एक दिन छोटे से बर्फ के टुकड़े जैसा हमारा अहं (Self) महत् में घुल-मिल जाता है। यही कारण है कि श्री बाबूजी ने मुझे लिखा था कि ''ईश्वर का द्वार हमें तभी मिलता है, जब हम चमत्कारों से बहुत ऊँचे उठ जाते हैं। वास्तव में साधना का तरीका सदैव सही एवं गतिशील (Dynamic) होना चाहिये। '' साधना की नींव जब अनुभव पर आधारित हो वही तरीका (Method) जाग्रत एवं Practical होता है। सहज-मार्ग में ध्यान हृदय पर करना बताया जाता है, क्योंकि दिमाग के कार्य का क्षेत्र हृदय है। जब हम हृदय यानी क्षेत्र (Field) में दिव्य प्रकाश (Divine light) की विद्यमानता (presence) को उतारते हैं, तो उसका अर्थ यही हुआ कि हृदय (Heart) एवं चित्त (Mind) को हम एक साम्य हालत पर लाने का प्रयत्न शुरू करने लगते हैं। इतना ही नहीं, सहज-मार्ग साधना हमें ऐसी ही सतत्-रहनी का संकेत देती है, कि हम ईश्वरीय प्रकाश में डूबे अन्तर में रहने का अभ्यास शुरूकर देते हैं, जिससे कि वाह्य का रंग, यहाँ की अशान्ति, अन्तर में पहुँचना ही बन्द हो जाती है। जब तक वृत्तियाँ वाह्य में रहेंगी, तब तक वाह्य की अशान्ति से हमें छुटकारा नहीं मिल सकता है। कुल वृत्तियों (Tendencies) को अन्तर में दिव्य लक्ष्य देकर उसी में लय रहने से प्रकृति (Native) की दिव्य चीज 'शान्ति' की ओर सहज ही उनका रुख फिर (वृत्तियों का) जाता है। शान्ति (Peace) ईश्वरीय देन (Natural Gift) है, उसे मानव प्रकृति में समत्त्व (Natural Balance) आने पर ही पाया जा सकता है। जब हमारा ध्यान बजाय भौतिकता के दिव्यता (Divine) में रहने लगा तो अन्तर में सहज ही दिव्य प्रकाश (Divine light) रहने लगता है, जो हमारे तनावों (Tensions) को दूर करके हमें निरन्तर हल्का बनाता जाता है। जितना हल्कापन अन्तर में होता जाता है, आत्मिक शक्ति उतनी ही बढ़ती जाती है, और हमें अपनी उन्नति पर विश्वास (Confidence) होता चला जाता है।

आज यह परम सत्य सिद्ध हो गया है कि वर्तमान शान्ति समस्या का समाधान केवल मानव के आध्यात्मिक विकास पर ही निर्भर करता है। यह कार्य तभी पूर्ण रूप से सम्पन्न एवं कारगर हो सकता है, जबकि हम इस सीमा तक

मन को श्रेष्ठ स्तर पर रख सकें, जिससे कि आजन्म साधक की अवस्था में ही भ्रमण करते न रह कर दैविक-शक्ति को भी पाते जायें। ऐसी सहज-मार्ग शिक्षा-प्रणाली को हमें स्वीकार करना चाहिये। आध्यात्मिक विकास के लिये अनन्त (Ultimate) शक्ति द्वारा निर्मित समस्त मानव-मूर्त्तियों में हम ईश्वरत्त्व का निखार ला सकें, समस्त हृदयों को दिव्य प्रकाश से प्रकाशित कर सकें, ऐसी दिव्य प्राणाहुति (Divine Transmission) शक्ति मय सहज मार्ग साधना को ही हम अपनायें। मानव हृदयों को विशुद्ध बनाकर उसमें ईश्वरीय परम गुण का परम विकास निखरते देख सकें, ऐसी ही परम, दिव्य, साम्य एवं शान्तिमय शक्ति का संचार हमें श्री बाबूजी द्वारा मिलता रहे, तभी विश्व की इस वर्त्तमान अशान्तिमय समस्या का समाधान होते देर न लगेगी। श्री बाबूजी, अध्यक्ष, श्री रामचन्द्र मिशन द्वारा निर्मित सहज-मार्ग साधना द्वारा बदलते मानव हृदयों में स्वतः ही श्री बाबूजी की पावन प्राणाहुति के संचार द्वारा मनस् की दिव्य गतियों को देखकर मेरे अन्तर में यह आशा दृढ़ हो गई है कि वह दिन जरूर आयेगा और ईश्वर शीघ्र लायेगा, जिससे बुझे हुये निर्बल मानव मन में उस परम एवं दिव्य ईश्वरीय शक्ति का योग सतत् रूप से प्रवाहित हो सकेगा। तब स्वयं हम भी परमशान्ति में डूबे हुए, समस्त बन्धुओं के अंतर में इसका वितरण भी कर सकने में समर्थ हो सकेंगे। ऐसा होकर ही रहेगा। मैं देख रही हूँ कि पहले हम दस अभ्यासी थे, तो उस समय ध्यान में डूबे रहने के प्रयत्न में, उतने से ही वातावरण में शान्ति का प्रवाह पाते थे। फिर ज्यों-ज्यों सहज मार्ग में श्री बाबूजी द्वारा बताये ध्यान के माध्यम से दिव्य रहनी में अन्तर को तल्लीन (Absorb) रखने के प्रयास वाले अभ्यासी बढ़ने लगे वातावरण में उतनी ही तेजी से शान्ति प्रसारित होने लगी। मैंने देखा है कि जब ध्यान (Meditation) के बाद OM और या 'बस' (That is all) प्रिसेप्टर कहते हैं, तो उस पूरे स्थान का ही वातावरण मानों निःशब्द हुआ मिलता है। अर्थात् केवल अभ्यासियों में ही नहीं वरन् वातावरण में भी शान्ति फैल जाती है। एक अजीब बात मैंने और पाई है कि ज्यों-ज्यों हम अभ्यासियों के बन्धन (Bondage) पिघल कर लय होते चले जाते हैं, वैसे ही वैसे एक-एक अभ्यासी की दशा का विस्तार (Expansion) होते चले जाने से उतना ही वातावरण शुद्ध एवं शान्तिमय होता जाता है। मानों हम दिव्यता की शान्तिमय एवं अविचल प्राणाहुति-शक्ति द्वारा वातावरण से अशान्ति के आवरण को दूर करते चले जाते हैं। अब सोचने की बात है कि वह समय भी सामने है, जब विश्व का वातावरण किसी हद तक दिव्य विभूति श्री

बाबूजी की दिव्यता से सँवर कर ध्यान में समाये मानव-हृदयों में ही नहीं बल्कि कुल वातावरण में शान्ति उतार लायेगी। विश्व की इस परम आशा को फलान्वित करते हुये हमारे श्री बाबूजी युग की यादों में समाये सदैव हमारे समक्ष प्रत्यक्ष रहेंगे।

''जब तक सूरज और चन्द्र रहें, बाबूजी हमारे चिरआयु रहें।''

*

तब और अब

''दूर वृक्ष के नीचे कदाचित् कोई स्त्री खड़ी है'' श्रद्धा ने कहा। वह घट लिये हुए उसी ओर बढ़ी। वृक्ष के पास पहुँच कर पल भर ठिठकी, पुनः उसके पार्श्व में जा खड़ी हुई। झुककर ध्यान से स्त्री का मुख देखकर मानों कुछ स्मरण करने का प्रयास करने लगी। कुछ समझ में न आया। पास बैठ गई। स्त्री अचेत थी। आस-पास कोई दिखाई न पड़ता था। सर्व प्रथम जल भरने पनघट पर वही आया करती थी, ऐसा तो उसने कभी न देखा था और उसका यह क्रम नया नहीं, वरन् उसे स्वयं स्मरण नहीं कि कब से इसी क्रम से उसका जीवन चलता आ रहा था।

''किन्तु यह स्त्री कौन हो सकती है?'' वह इसी विचार में चिन्तन् की मुद्रा में बैठी थी। छोटा सा गाँव और उसमें भी उजड़ी सी बस्ती, कुछ समझ में न आ रहा था कि कहाँ जायें? क्या करे? किससे सहायता माँगे?

एकाएक वह उठ खड़ी हुई। शीघ्रता से पनघट पर गई, घटभरा और लौट पड़ी। पुनः उसके पास बैठकर स्त्री के मुख पर शीतल जल के छींटे देने लगी और बार-बार मुख धोने लगी तथा आँचल से हवा करने लगी। कुछ देर यही उपक्रम करने के पश्चात् स्त्री में परिवर्तन दिखाई पड़ने लगा। वह और शीघ्रता से उसके मुख पर हवा करने लगी - फलस्वरूप एक कराह के साथ स्त्री ने नेत्र खोल दिये। इधर-उधर दृष्टि दौड़ाने के उपरान्त उसके नेत्र श्रद्धा के प्रसन्न मुख पर जा टिके।

''बेटी पानी'' उसके शुष्क होंठ खुले और आपस में दो बार टकराये। आँचल भिगो कर बेटी उसके मुख में थोड़ा-थोड़ा जल देने लगी, जिससे उसके शुष्क होंठ तर हो गये और मुख पर चेतनता खेलने लगी। वह उठकर बैठने का उपक्रम करने लगी, किन्तु श्रद्धा ने उसे ऐसा करने से मना कर दिया। ''बेटी! तू घर जा, अबेर हो गई है। घर में सब लोग चिन्तित होंगे। जल के बिना माता तेरी बाट देख रही होगी। और जल के बिना उसके कार्य भी अधूरे पड़े होंगे।''

''माँ! मेरे लिये चिन्तित होने वाला तथा मेरी बाट जोहने वाला कदाचित् अब कोई नहीं है।''

अवाक् थी माँ और देख रही थी श्रद्धा के उदार-मुख को।

''क्या तेरे भाई-बहिन भी कोई नहीं है?''

कुछ स्मरण करती हुई विचारों में लीन सी हो गई श्रद्धा। बचपन का धुँधला सा स्मृति-चित्र एक बार नेत्रों के सामने घूम गया। हाँ, उसकी बहिन, छोटी सी बहिन तो थी 'निठा' नहीं 'निष्ठा' और भाई 'विश्वास'। और कौन? स्मरण आया 'प्रेम' था 'प्रेम'। कितना सौम्य और सुन्दर। विश्वास, प्रेम से आयु में छोटा होने पर भी बड़ा ही तो लगता था। चंचल भी तो कितना था वह।

सहसा स्त्री की प्रेममयी वाणी ने उसकी विचार श्रृंखला को ज्यों का त्यों रोक दिया।

''बेटी! क्या सोच रही है? अच्छा रहने दे, अपना नाम तो बता देगी बिटिया।''

''माँ! गाँव के सब लोग मुझे श्रद्धा कह कर पुकारते हैं।''

स्त्री कुछ चौंककर अतीत को याद करती सी बोली - ''कैसा छोटा सा प्यारा नाम है। अच्छा, तेरे इस छोटे से गाँव का क्या नाम है।''

''संसारपुर। परन्तु वृद्ध लोगों का कहना है कि पहले यह नगर था और इसका नाम भी इस नगर के मालिक के नाम पर था राम नगर। तब इसकी शोभा भी देखते ही बनती थी। सर्वत्र सुख-शान्ति का साम्राज्य था। परस्पर सब लोगों में इतना प्रेम था कि यही समझ में आता था कि मानों कुल नगरी एक ही कुटुम्ब के लोगों से भरी पूरी थी। नगर का 'मालिक' देवता की भाँति पूजा जाता था और वह था भी ऐसा ही। माँ! मुझे भी एक क्षीण सी झलक स्मरण है उसकी। यद्यपि उसके दर्शन तो कम ही हो पाते थे, किन्तु जो भी, जब भी उसे देखता निहाल हो जाता। देखता ही रह जाता और फिर वह जो कुछ बोलता उसे लोग मानों हृदय पर अंकित करके फिर जो कुछ लिख पाते लिख भी लेते थे, फिर उसे जो और लोग श्रवण करते अथवा पढ़ते वे विभोर हो उठते थे।''

माता ध्यान से श्रद्धा की एक-एक बात सुन कर मानों उन शब्दों में डूबती सी जा रही थी। और न जाने क्यों यह सब सुन कर उसका मुख उद्दीप्त होता जाता था। वह बैठी बराबर श्रद्धा का ही मुख देखे जा रही थी।

''हाँ, एक बात और याद आई। मालकिन का नाम था कामना।'' अब तो स्त्री के मुख का रंग बदल गया। उसके नेत्रों से झर-झर अश्रु गिर रहे थे।

किन्तु श्रद्धा। वह तो अतीत की स्मृति में इतनी बेसुध सी थी कि उसे इसका

कुछ ज्ञान ही न था। पुन: बोलने लगी- ''उसके दो लड़के तथा नन्हीं सी सुकोमल दूध के फेन के सदृश थी एक बालिका। नाम था उसका 'निष्ठा' और 'विश्वास' तथा 'प्रेम' थे उसके दादा। प्रेम तो बहिन की अनुहार था, किन्तु 'विश्वास' जरा सा चंचल था। परन्तु भाई-बहनों में परस्पर अपार स्नेह था और माता-पिता के तो एक संकेत पर न्यौछावर थे। मुझे तो दीदी कह कर पीछे ही पीछे फिरते।'' - ''और कुछ?'' माँ ने कहा।

''हाँ! भाई-बहनों के साथ मेरा भी नगर में बड़ा मान था, और तो कुछ स्मरण नहीं।''

परन्तु यह क्या? वह तो माता के अंक में थी और दोनों सिसकियाँ भर रही थीं। पुन: संभल कर माता बोली - ''आगे मैं बताऊँगी बेटी।''

''तेरे भी पिता का नाम 'ध्यान चन्द्र' तथा माता का नाम 'स्मृति' था। सती, साध्वी थी तेरी माँ। तू इकलौती ही संतान थी और बहुत दुलारी। माता-पिता के नेत्रों की ज्योति। और मैं ही हूँ बेटी, वह 'कामना' तथा 'मालिक' थे ईश्वर। निष्ठा-मेरी सुकुमारी लाड़ली के पिता, और वे 'विश्वास' तथा 'प्रेम' मेरे ही लाल हैं। बेटी! तू भी मेरी ही लाड़ली की भाँति मेरे ही यहाँ खोई रहती। कोई भी यह न कह सकता था कि 'श्रद्धा' के माता-पिता और हैं।

''फिर?''

''कैसे एक दिन घोर अंधड़ तथा वर्षा आई। प्रलयंकर हाहाकार मच उठा। सब कुछ बह गया। पता नहीं, न जाने कैसे, सम्भवत: वर्षा में ही बहते-बहते उसका गृह एक रमणीक बस्ती (ब्रह्मलोक) में जा लगा। किसी को चेतना न ती, बेसुध से थे। न जाने कैसे, कब आँख खुलने पर अपने को उस रमणीक नवीन किन्तु परिचित नगरी में पाया। नगरी का राजा 'निष्ठा' के पिता को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और सब लोग आनन्द पूर्वक रहने लगे। कुछ काल व्यतीत होने पर प्राचीन नगरी की खोज लेनी चाही, तो पाया, वह ध्वंस हो चुकी थी और नवीन दृश्य उपस्थित था। सब स्वार्थी, परस्पर ईर्ष्या, द्वेष से परिपूर्ण तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं अभिमान् से ग्रसित लोगों का साम्राज्य था। सोचा कि चलें अपनी नगरी का पुनरुत्थान करें। किन्तु कौन सुनता? सब अपने में ही व्यस्त थे, इसलिये फिर देश लौट जाना पड़ा।

अब - श्रद्धा को भी स्मरण आ रहा था कि कैसे एक दिन घोर वर्षा में,

भयानक तूफान में सब दूर दूर बह गये और अलग-अलग हो गये उसी में श्रद्धा के माता पिता का भी पता न चला।

और तब से -

बेचारी श्रद्धा दीन, दुखियों की सेवा करती तथा सबके दुख-सुख में भाग लेती अपने फूस की झोपड़े में तथा एक कोठरी में ही निर्वाह कर रही थी। नहीं तो उसे स्मरण था कि उसका सम्बन्ध तो बहुत ही श्रेष्ठ घराने से था। कभी-कभी स्मरण करके वह चिन्तित सी हो उठती। और अब -

''यहाँ क्यों और कैसे आई माँ?'' श्रद्धा ने जिज्ञासा से पूँछ ही तो लिया। माता कहने लगी - ''बिटिया ! मुझे तेरी तथा तेरे माता-पिता की भी चिन्ता थी। मैंने सुना कि अब यहाँ का राजा बड़ा ही सौम्य, सदगुणी है। मेरे अबके नवीन नगर में भी उसका बड़ा नाम तथा मान है। उसी के दर्शनों के लिए निष्ठा के पिता से अनुमति लेकर यहाँ आई हूँ। और भी बहुत कुछ है श्रद्धा। सुना है, उसने तेरे माता, पिता को भी खोज कर नगरी में ला बसाया है। उनसे मिले भी बहुत समय हो गया इसीलिये चली आई।''

श्रद्धा चौंकी - ''क्या सच माँ?''

''हाँ बेटी! इस नवीन सम्राट ने सब का पुनरुत्थान किया है। देखती नहीं नगर का रंग कितना पलट चुका है और पलटता जा रहा है। देखना यह नगरी तब से सुघर नवेली की नाई सज जावेगी।''

''तो क्या निष्ठा, विश्वास तथा प्रेम भी साथ आये हैं?''

''हाँ बेटी! वे तो सहज-मार्ग द्वारा उधर से ही चले गये हैं, किन्तु मैंने तुझे भी साथ लेकर जाना चाहा था, इसीलिये यहाँ आई थी। अब साथ ही चलें और रमणीक, सुहावने संसार पुर का अवलोकन करते हुए सम्राट के निकट चलें। वहीं मिलेंगे तेरे माता, पिता, निष्ठा, विश्वास तथा प्रेम भइया। सूने देश की बहार देखें।''

श्रद्धा घट छोड़कर उठ खड़ी हुई और प्राय: पूर्ण स्वस्थ्य हुई माता 'कामना' के साथ हो ली। चलते चलते पूछा - ''माँ! क्या निष्ठा के पिता नहीं आये?'' - ''नहीं बेटी! वे नहीं आये। उन्होंने कहा कि मैं तो वहाँ हूँ ही। भला मैं उसे छोड़कर कहाँ जा सकता हूँ। किन्तु अब मेरी इतनी आवश्यकता नहीं। नगरी के पूजन, ध्यान को अब वही राज राजेश्वर योगेश्वर उपस्थित हैं।'' श्रद्धा में न जाने कितनी शक्ति आ गई थी। उसे तो अपना गाँव संसार भी बिसर चुका था। स्मृति में

था तो केवल एक वही योगेश्वर। माँ तथा बेटी के नेत्रों केसामने एक एक कर वही चित्र घूम जाते थे। तब!

और अब! और एक ही दृश्य अब दृष्टिगत् था। सारे नगर, समस्त दिशाओं से एक ही ध्वनि प्रतिध्वनि हो रही थी।

तब! और अब!

नोट : श्रद्धा-श्रद्धा है। कामना-कामना है। निष्ठा-निष्ठा है। माँ-भाई अर्थात सारे नाम यथावत् हैं। श्रेष्ठ घराना-ईश्वरीय-देश। तब!-जब सहज-मार्ग साधना न थी और अब! - श्री बाबू जा का सहज-मार्ग अर्थात सत्-(ईश्वरीय) मार्ग है।

*

सहज-मार्ग-जैसा मैंने देखा

श्री रामचन्द्र मिशन में श्री बाबूजी महाराज द्वारा लाई गई

सहज-मार्ग साधना की नींव समस्त वाह्य आडम्बरों से परे, मात्र ईश्वर साक्षात्कार के लक्ष्य पर ही आधारित है। इसीलिये इसमें साधना का प्रारम्भ हमारे लिये यहीं से होता है कि हर वाह्य आडम्बरों से हीन, मात्र ईश्वरीय-प्रकाश को अन्तर में मौजूद मानकर उसमें डूबे रहने के ध्यान में रहें। हम अभ्यासियों का यही एकमात्र परम ध्येय होता है कि साक्षात्कार के पथ पर ही आरूढ़ हुए, जिसका साक्षात्कार पाना है, उसके ही पावन प्रकाश के ध्यान में डूबे, मिलने की चाह में तन्मय रहने का ही अभ्यास करते हैं। जब चाह का मात्र एक ही विन्दु हो जाता है, तब मैंने देखा है कि इस दिव्य चाह के पनपते जाने पर तमाम भौतिक एवं वाह्य चाहनायें इसमें लय होने लगती हैं और एक दिन केवल यही एक दिव्य मिलन की चाह ही अन्तर में रह जाती है। पावन साक्षात्कार की चाह को सींचने और दृढ़ करने के लिये हमारे परम पूज्य श्री बाबूजी द्वारा हमें उनका डिवाइन ट्रांसमिशन अत्यन्त सहायक रहता है। हमें साक्षात्कार हो, उनकी इस परम इच्छा को उनकी प्राणाहुति और भी दृढ़ता प्रदान करती जाती है। हमारी यही दशा हो जाती है कि हम इस क्षेत्र में कुछ स्वार्थी से हो जाते हैं, अर्थात् हम कहते हैं:-

''नयना अन्तरिआव तू, ज्यों हौं नैन झपेऊँ।
न हौं देखूँ और को, न तोय देखन देंऊँ॥''

एक विशेषता यह है कि अपने लक्ष्य-प्राप्ति के बाद यही श्रेष्ठ चाह समस्त को साक्षात्कार की दिशा में ले जाने के लिये सहायक हो जाती है। ज्यों-ज्यों 'श्री बाबू जी' की प्रणाहुति का प्रवाह अन्तर में मिलता जाता है, सजह-मार्ग हमारे लिये नेचुरल पाथ होता चला जाता है, क्योंकि ध्यान को समस्त से समेट केवल लक्ष्य में लय रखने की दिव्य प्राणाहुति-युक्त सहज-मार्ग साधना अपनाने में सारी बेकार चीजें ट्रांसमिशन पावर के सेंक द्वारा पिघलकर हृदय से स्वत: ही बाहर निकल जाती हैं। हमें तो तब प्रयत्न करने का ध्यान एवं अवकाश भी नहीं रहता है और प्रेम की विशुद्ध अवस्था अर्थात् लय अवस्था स्वत: ही अन्तर में उत्पन्न होकर खिल उठती है। सरलता की दशा ही हमारे अन्तर-बाहर समस्त में व्याप्त हो जाती है।

जटिलता हमारे अन्तर से स्वतः ही ऐसे दूर हो जाती है मानों हमने केवल ध्यान ध्यान में डूबे रहने के कभी और कुछ किया ही नहीं। यहाँ तक कि हमें ऐसी सामीप्यता लगने लगती है कि लगता है कि हम यहाँ नहीं, बल्कि उनके दैविक लोक में ही हमेशा रहने लगे हैं। भाव एवं अन्तर ऐसे मुलायम होते जाते हैं, मानों हम हमेशा पानी-पानी से हुए रहते हैं। संकुचितपन हृदय से जाने कब समाप्त हो जाता है और हमें अन्तर में फैलाव का अनुभव होने लगता है। यह सारी बातें सहज में ही हमारे अन्तर में उत्पन्न हो जाती है, जिससे मैं कह सकती हूँ कि सहज-मार्ग साधना Natural path of Realisation है। साक्षात्कार का प्रारम्भ हृदय में उसकी अत्यन्त सामीप्यता की प्राप्ति के अनुभव से प्रारम्भ होता है। दिव्यता के साक्षात्कार के लिये उसके ध्यान में डूबे रहने का अभ्यास ही हमारे लिये फिर गहन सामीप्यता प्रदान करके सारूप्यता की दशा में निखार लाता है और ऐसा निखार आना अनिवार्य होता है। सामीप्यता की दशा में उसको रिझाने के लिये किसी भी वाह्य रूप को देख पाने की अनिवार्यता हममें से दूर हो जाती है। अब हम साधक नहीं होते हैं वरन, हम उसकी प्राप्ति में खुद को मिटना (लय होते हुये) देखने वाले हो जाते हैं। सहज-मार्ग साधना में प्रवेश पाये हुए श्री बाबूजी की पावन प्राणाहुति में हृदय को डुबोये हुए ये बातें हमें कहने में न तो मधुर लगती हैं और न सुनने में ही सरस प्रतीत होती हैं कि हम साधक हैं, हम भक्त हैं। हम तो जो हैं, 'उसकी' चाहमें 'उन्हें' मिलने को आकुल-व्याकुल हैं। इसीलिये हमें वाह्य में बताने के लिये कि हम किसी के भक्त हैं, ऐसे कोई वाह्य चिन्ह हमारे पास नहीं रह जाता है। कोई पुस्तक पाठ हमारे लिये रुचिकर नहीं होता है, बल्कि जिनकी प्राप्ति में परमानन्द है, शाश्वत शान्ति का प्रवाह अन्तर में व्याप्त है, उनकी प्राप्ति के हम दीवाने हुए रहते हैं। हमें कोई भी किसी भी धर्म का कह ले, लेकिन हमें इसका कुछ पता नहीं होता है। हमारा धर्म तो केवल उसे पाने का हो जाता है। इसीलिये धर्म की परिभाषा हमारे लिये न तो कट्टर होती है और न संकुचित ही, वह विराट् हो जाती है। हमें तो उसको पाना है, जिसके लिये इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह जो है, सो है। यही इसका निरावरण पावन स्वरूप है और यही हमारी आत्मा से गर्भान्भत परमानन्द का परम स्वरूप है। वास्तविक बात तो यह है कि जब तक हम में 'हम' जीवित रहता है, तब तक हमारे अन्दर संस्कार बनने, बिगड़ने और आत्मा में Gross mess पैदा करने का सामान मौजद रहता है। यही हमारी आत्मा पर आवरण डाल कर मन को मलिन और बुद्धि को भ्रमित बना देता है। जैसा हम किसी से सुनते हैं, वैसी की क्रिया ईश्वर-प्राप्ति के लिये हम करना शुरू कर देते हैं

और उस साधन को ही सब कुछ मानकर उससे ही बँध जाते हैं, जब कि साधना का प्रभाव हमें बन्धन से मुक्त करना होता है।

मैंने देखा है कि बहुत से अभ्यासी कहते हैं कि हम सहज-मार्ग साधना को अपनाये हुए हैं। लेकिन अभी भी तमाम पूजा-विधियों या क्रियाओं के बोझ से उनके अन्तर दबे हुए हैं। साँची सहज-मार्ग की ध्यान-साधना में तभी हम डूब सकते हैं, जब हम परमात्मा की प्राप्ति के लिये खुद से भी बेसुध हुए, बाबूजी की प्राणाहुति द्वारा ध्यान में निरन्तर गहनता में पैठते चले जाते हैं। ईश्वर के ध्यान में तन्मय हुये ईश्वरीय प्रकाश में नहाये हुए हमारे अन्तर-बाहर की भौतिकता भी पिघल-पिघल कर बाहर निकलती जाती है और हमारा उन्नति-पथ बराबर ही सरल एवं सहज हो जाता है। 'कबीर' ने इस दशा का विवेचन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है कि:-

"सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्हें कोई।
जा सहजें हर जू मिलें, सहज कही जैं सोई॥"

'श्री बाबूजी' ने भी इसे सहज-मार्ग ही कहा है। उनका यह नाम तभी हमारे सामने प्रत्यक्ष हो पाता है, जब हम देखते हैं कि सहज-मार्ग साधना में 'श्री बाबूजी' की पावन-प्राणाहुति का सहारा पाये, ध्यान में डूबे हमें स्वत: ही ईश्वर-प्राप्ति के पथ में 'उनसे' गहन सामीप्यता मिलती जाती है। लगन दृढ़ होती जाती है और उसे पाने की बेचैनी चैन नहीं लेने देती है। आंखें किसी और को अपने श्री बाबू जी के अलावा देखना ही नहीं चाहती हैं। बुद्धि और विचार मानों उनकी ही बातें सुनना और सोचना पसन्द करते हैं। कोई भी कट्टरता, वाह्य आडम्बर, क्रियायें या पूजा हमारे मार्ग में बाधक नहीं हो पाती हैं। पाठ करना तो दूर रहा, तबियत इतना भी अवकाश नहीं चाहती है कि उसके ध्यान को छोड़कर हम एक अक्षर भी कुछ पढ़ सकें। अंतर में डूबे रहते हुए हमें तो यह तक भूल जाता है कि हम दुनिया में रहते हैं या 'उसके' पास रहते हैं। ऐसी सालोक्यता की दशा को पाये हृदय फिर यहाँ की लय-अवस्था की सीमा के परे की हालत के अनुभव में लय रहने लगता है। हमें अपना स्वरूप भी उनका ही प्रतीत होने लगता है। वास्तव में सहज-मार्ग ईश्वर-प्राप्ति के लिये इतनी नाजुक राह है कि हम किसी भी दिशा, पूरब, पश्चिम या उत्तर, दक्षिण के हैं, ऐसा ख्याल भी हृदय में नहीं आने देता है। धीरे-धीरे हमारे लिये तो हमारा पता भी ऐसा खो जाता है कि हम कौन हैं, कहाँ से आये हैं, और कहाँ के रहने वाले हैं, यह भी विस्मृत हो जाता है। तभी श्री बाबूजी हमें सायुज्यता की दशा

में मिलाने (लय) लगते हैं। तब हमें अवश्य ही वतन (ईश्वर) का मुँह देखने को मिलता है। कारण यही है कि सहज-मार्ग में हमारे 'श्री बाबूजी महाराज' की इच्छा-शक्ति और हमारे अन्तर में उनकी ईश्वरीय-धारा का सतत् प्रवाह, ईश्वर को पाने की चाहना से अन्तर को ऐसा विशुद्ध कर देते हैं, कि केवल लक्ष्य के प्राप्त करने में सहायक, समस्त सीमाओं और बन्धन से परे, सतत् ईश्वरीय धारा द्वारा अन्तर-स्नान में ही हम खोये रहते हैं। कौन नहाये गंगा, जब कि ईश्वरीय-धारा रूपी पावनता में हम सदैव ही डूबे रहते हैं। कौन जायेगा तीर्थ जबकि तीर्थों को भी पवित्र करने वाली सतत् प्राणाहुति का प्रवाह अन्तर को विशुद्ध कर देता है। केवल लक्ष्य के प्राप्त करने में सहायक ईश्वरीय धारा का प्रवाह हमें हृदय में सतत् बहता हुआ प्रतीत होता है। एक ओर तो साक्षात्कार का हमारा संकल्प, दूसरी ओर परम् लक्ष्य से मिलाने का संकल्प हमारे परम् प्रिय 'श्री बाबूजी महराज' का; यह श्रेष्ठ सम्मिश्रण हमारे अन्दर ऐसी सजगता उत्पन्न कर देता है, जो हमारे कुल अस्तित्व को सतत् ही लक्ष्य से जोड़े रखता है। सायुज्यता की दशा में लय रखने में वे ऐसा सतर्क रखते हैं कि हम कभी भी वाह्य की ओर रुख फेर ही नहीं सकते हैं। कभी भी हम इससे अलग हो नहीं पाते हैं। हमें स्वयं को तौलते रहना चाहिए कि ईश्वर-प्राप्ति की चाह में सहज मार्ग साधना में बताये ध्यान द्वारा हम कितने गहरे पैठे हुए हैं। सहज-मार्ग का अवलम्बन लिये हुए श्री बाबूजी की पावन ईश्वरीय धारा का सहारा सहज ही हमें Divine में लय करना शुरू कर देता है। हमारा ध्यान एकांगी होकर गहनता को प्राप्त हो जाता है। हमारे 'श्री बाबू जी' का अपनत्व भरा वात्सल्य हमें पूरी तरह से अपने में लय कर लेता है।

सहज-मार्ग, साक्षात्कार का Natural Path है। इसीलिये मैंने इसमें यही पाया है कि ध्यान स्वयं में पूर्ण साधना है। ध्यान में पूर्णतया लय हो पाने के लिये, Realisation को प्राप्त करने के लिये जिन बातों की आवश्यकता होती है, वे हमारे अन्दर स्वयं ही उत्पन्न होती जाती हैं और लक्ष्य की प्राप्ति हो जाने के बाद अपना काम पूरा हो जाने पर स्वत: Divine में ही विलीन हो जाती हैं। जब एक मात्र Divine के साक्षात्कार की चाह में डूबे हम अन्य क्रियाओं एवं चाहनाओं से शून्य Zero होकर उसमें ही लय होते हुए जुड़े रहते हैं तो हम दसगुणा लाभ उठा पाते हैं। उस 'एक' की पूर्ण शक्ति हमें अपने अनुरूप ही ढालने में लगजाती है। लेकिन जब एक Divine में हम क्रियाओं की इकाई को जोड़ देते हैं तब मानों दिव्य-शक्ति कई धाराओं में विभाजित हो जाती है। सहज मार्ग साधना में हम पूर्ण लाभान्वित हो पाते हैं क्यों कि हम परम लक्ष्य को प्राप्त करने की इकाई में हम स्वयं से भी शून्य (Zero) अर्थात्

Minus होते हुए उससे चिपटते जाते हैं। हमारी इच्छा एवं शक्ति दोनों का समन्वय एक ओर होने से सुदृढ़ हो रहता है और उस परम लक्ष्य में Zero होकर जुड़े रहने से बाबूजी की इच्छा और शक्ति का प्रवाह भी एक ही धारा में सिमट कर पूर्ण रूप से हममें सतत् और समान रूप से प्रवाहित रहने लगता है। सहज-मार्ग साधना ध्यान द्वारा हृदय की गहराई को भी नापने वाली होती है। हमारे श्री बाबूजी महाराज तो यहाँ तक कहते हैं कि लोग ध्यान व Cleaning Process को Mechanical way में करने लग जाते हैं, इसलिये उन्हें पूरा लाभ नहीं मिल पाता है क्योंकि 'करना है' उनकी Habit बन जाती है। साधन एवं क्रिया में उलझे रहने की आदत पड़ जाती है। हम में से बहुत हैं जिन्हें प्राणाहुति का सतत् प्रवाह मिलना अनुभव नहीं हो पा रहा है, इसका कारण यही है कि उनकी याद में लक्ष्य नहीं, बल्कि साधन को स्थान मिला हुआ है। उनके ध्यान में मात्र Divine की प्राप्ति या उसकी Light में डूबना ही नहीं होता, वरन् साधन एवं क्रिया के रंगों में उनका ध्यान रंगा हुआ होता है। इसीलिये अन्तर में निर्बल हो कर हम श्री बाबूजी के इस कथन को अपने में पूर्णतया नहीं उतार पाते हैं कि ईश्वर प्राप्त करना वीरों का ही काम है।

आज समस्त बन्धुओं से मेरी यही प्रार्थना है कि वास्तव में हम सहज मार्ग साधना में ईश्वर प्राप्ति के परम लक्ष्य के प्रति जागरूक रहकर अन्तर में उसी के ध्यान में लय रहते हुए सहज मार्ग के सच्चे अभ्यासी बनें। आज अपने परम प्रिय सद्गुरु रूपी जननी 'श्री बाबूजी' के समक्ष यह प्रमाणित कर दें कि हम 'उनके' हैं और ईश्वर-प्राप्ति के सच्चे इच्छुक हैं। इतना ही वे हम अभ्यासियों से चाहते हैं। मुझे खूब याद है कि एक बार उन्होंने मुझे लिखा कि ''बिटिया! मँहगाई का जमाना है, पेट नहीं भरता है, लोगों को चाहिये कि मेरी तनख़्वाह यानी ईश्वर-प्राप्ति की चाह को और बढ़ा दें।'' कितनी Craving है, उन्हें हमें भरपूर कर देनी की। उनकी इस चाह को अपने में पूर्ण रूप से पूरा होने का हम समय और स्थान दें, यही हम अभ्यासियों का परम कर्त्तव्य है। माँ अपने बच्चे को कभी भी भटकते नहीं देखना चाहती है। वह चाहती है कि बच्चे हिल्ले से लग जायें। ऐसा ही मैंने देखा है कि हमारे श्री बाबू जी हमसे यही अपेक्षा करते हैं कि ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में शीघ्र एवं सरलता से बढ़ते हुए हम भी हिल्ले से लग जायें और लक्ष्य तक पहुँच जायें।

*

जोगी! मत जा, मत जा रे!

यह बात न तो लम्बी-लम्बी जटाओं वाले सन्यासी बाबा की है और न चिमटा बजा-बजा कर गाते हुए उन अपरिचित महत् पुरुषों की है, जिनकी बातें केवल वे ही जानते हैं। न उन बड़े-बड़े मठाधीशों की है जिनकी भ्रू के एक इशारे से कुबेर की लक्ष्मी प्राँगण में थिरकने लगती है, वरन् उस सीधे सौम्य एवं विस्मृत से तरुण योगी की है कि जिसके औष्ठ-द्वय से कर्ण-कुहरों में धीमी किन्तु स्पष्ट ध्वनि आती थी कि - ''इस सँसार के भोग नहीं समाप्त होते, हम ही समाप्त हो जाते हैं। तपस्या नहीं समाप्त होती, तपस्वी समाप्त हो जाते हैं। समय नही जाता, हम ही चले जाते हैं, किन्तु जब 'हमी' (अहं) चली जाती है, तो फिर हम नहीं जाते, कभी नहीं जाते, क्योंकि फिर आना-जाना समाप्त हो जाता है।

ऐसे ही उस ग्राम के बट तरुवर की सुखद छाया में बैठा था वह जोगी। तरुवर की धरणी तक लटकती लम्बी दाढ़ी एवं उस दाढ़ी में से भी निकले छोटे बड़े अनेक वृक्षों से ही उस वृद्ध तरुवर की अवस्था का अनुमान लगाया जा सकता था। प्रौढ़ता की अंतिम श्रेणी को लांघते हुए राम दीन की दादी का भी कहना था कि उसके बचपन में भी यह वट-वृक्ष इसीप्रकार उन्नत मस्तक किये खड़ा हुआ था। किन्तु तब?

तब वह अब की भांति लम्बी-लम्बी लटकती जटाओं वाला वृद्ध योगी न था। वरन् बुढ़िया का कहना था कि चौथेपन में वह भी योग लेकर जोगी हो गया था। सच ही तो वह जोगी था। जेठ की उड़ती तमाम उष्ण रज, मानों उसके समस्त शरीर में भस्म का लेपन कर देती। एक बार सावन-भादों की झड़ी उस जोगी के शरीर को पखार कर पुनः स्वच्छ करती, किन्तु उसकी सुधि किसे थी? वह तो जोगी था बेचारा! उस पर ऋतुओं का प्रभाव नहीं, समय की गति का भान नहीं। इसकी निस्वार्थ घनी छाया में तो चाहे मोहन की मुरली अपनी राधा की टेर लगाती, चाहे अर्थी के पीछे - ''रान-नाम सत्य है' की ध्वनि से किसी जोगी को उसके जोग से विचलित करने की चेष्टा करते। कितने ही मानव निकल जाते। किन्तु उस जड़ जोगी का ध्यान नहीं टूटा तो नहीं ही टूटा। काश! वह ऐसा ही रहता। एक दिवस?

हारे थके भगवान् भास्कर, क्रमशः रथ को राजधानी की ओर बढ़ाये लिये जा रहे थे, किन्तु उष्णता के कारण रह-रह कर मानों उन्हें लग रहा था कि आज दिन, अस्ताचल भी कदाचित् दूर सरक कर मानों किसी वट वृक्ष की शीतल छाया को खोजने का प्रयास कर रहा था। या गर्मी से घबराये लोगों का भ्रम था कि आज दिन मानों इतना बढ़ गया था कि काटे नहीं कट रहा था। किन्तु कुछ भी हो, न जाने कितनी दूर से हारा थका एक युवक न जाने कब उस बट-वृक्ष की शीतल छाया में आ बैठा था। उसका शरीर धूप में चले आने के कारण तपाये हुए कंचन के सदृश प्रतीत होता था। दाढ़ी-मूछों केस्थान पर छोटे-छोटे बालों के उग आने से कुछ हरा-हरा दीख पड़ रहा था। मुख पर शान्ति मानों शुभ्र-ज्योत्सना की भांति छिटकी हुई थी। उसके नेत्र मानों उसके हृदय ही में बिला चुके थे, क्योंकि उसकी ऐहिक दृष्टि में ज्योति थी, किन्तु चेतना न थी। तन पर कौपेय एवं कर में कौपीन न था। वरन् शरीर से मिलते-जुलते सादे वस्त्र मानों उसकी अर्ध-चेतना सी अवस्था से होड़ सी लगा रहे थे। वह बैठा था। बैठे ही बैठे पीठ को वृक्ष के मोटे तने से टेक कर नेत्र मूँद कर प्रायः ध्यानावस्थित सा हो गया। किसी ने बड़े ही मृदु एवं कोमल स्वर में प्रश्न किया-

''कहाँ से पधारे हो जोगी बाबा? क्या तुम्हें नींद आ रही है? अभी तो दिन है। क्या तुम्हारी माता इतने शीघ्र सोने को तुम्हें मना नहीं करती हैं? अम्मा कहती हैं कि जो जल्दी सो जाता है, उसे रात्रि में फिर तारे गिनने पड़ते हैं और मुझे तो भाई इतने अंकों की गिनती भी नहीं आती। तो क्या तुम्हें इतनी सारी गिनती आती है कि तुम तारों को गिन सको?''

तरुण ने मधुर स्वर सुन कर अपने विशाल, गम्भीर नेत्र खोल कर देखा तो एक प्रायः छ सात वर्ष की बालिका को अपनी ओर मुख किये अपने प्रश्न की आशा में खड़ी पाया। भोली सी आकृति, स्वस्थ बदन, विशाल नेत्र, लम्बी लम्बी बरौनियाँ। बालिका ने उसको नेत्र खोले देखकर कहा -

''बोलो न, अब तो तुम जग भी गये हो। तुमने आँखे भी खोल दी।'' परन्तु तरुण फिर भी चुप। ''भाई, तो क्या तुम्हारे नेत्रों में शीशा जड़ा हुआ है, जो खोले हुए भी तुम देख नहीं पाते। मैं जब कभी माँ की डाँट पड़ने पर तुम्हारी तरह आँखे खोले हुए देखती रहती हूँ, तो माँ कहती है कि इस सिस्सो की आँखों में तो शीशा जड़ा हुआ है, जो आँख नीची करना ही नहीं जानती।'' अबकी बार वह मौन न रह सका। जोगी ने मन्द मन्द मुस्कुराते हुए कहा -

'अच्छा, क्या तेरा नाम सिस्सो है? तभी मुझे सब ओर शीशा ही दिखलाई पड़ता है। मैं सो नहीं रहा था सिस्सो?''

'तो जागते हुए भी तुम क्यों न बोले? अच्छा, मैं समझ गई, तुम बहानेबाज़ भी पक्के हो। जब तुम्हारी माँ से मैं तुम्हारी शिकायत करूँगी, तब तो तुम इस बहानेबाज़ी के कारण बिना पिटे नहीं बच सकते।''

''परन्तु मेरी माता तुम्हारी शिकयात सुनने नहीं आ सकेंगी, सिस्सो।''

इतने में ही सिस्सो को पुकारती हुई इसकी माता उधर ही आ गई। बट-वृक्ष की छाया में बैठे तरुण-योगी ने देखा तो देखती ही रह गई। मानों स्वयं जोग ही जोगी का स्वरूप धारण कर ग्राम को पावन बनाने उतर आया हो।''पाँय लागूँ जोगी बाबा। थके जान पड़ते हो, कुछ जल इत्यादि ले आऊँ? चल सिसिया घर चल।''

''माता! मैं न सन्यासी हूँ, न योगी हूँ और न फ़कीर ही हूँ। माँ तो एक साधारण जन मात्र ही हूँ।''

''कुछ भी हो महाराज! आपके मुख की श्री बतला रही है कि आप कुछ भी न हों, फिर भी कुछ हो।'' इतना कह कर शीघ्रतापूर्वक वह गृह की ओर चली गई। क्रमशः एक कान से दूसरे, दूसरे से तीसरे, होते होते उस छोटे से ग्राम भर में फैल गई कि कोई सिद्ध जोगी आये हैं, अतः ग्राम की श्रद्धा यथाशक्ति उस वट-वृक्ष के नीचे एकत्रित होने लगी। जो भी सुनता, वही उन महापुरुष के दर्शनार्थ दौड़ पड़ता।

न मालूम क्या जादू था उस जोगी में कि बालक, वृद्ध, युवा जो एक बार उसे देखता, मुग्ध हो जाता। वह न भी मुस्कुराता, तो भी उसके विशाल नेत्रों को तो मानों मृदु-मुस्कान ने तद्रूप ही प्रदान कर दिया था।

''भाईयों! तुम सब क्यों इतने परिश्रान्त हो रहे हो? मैं भी तुम सब की भाँति एक मानव-मात्र ही हूँ, फिर इसके लिये इतने मान-आदर की क्या आवश्यकता है? भला, बोलो, मैं तुम सबकी क्या सेवा करूँ?''

''महाराज! जिसमें हमारा कल्याण हो, वही बात कृपया आप हमें समझावें। हम निपढ़ ग्रामवासी हैं। दिन-रात धन-धान्य की उत्पत्ति के अतिरिक्त हमारा चित्त ही कहीं नहीं जाता है। अब आप ही हमें कुछ बतावें।''

''थोड़े धन को प्रभूत समझ कर प्रसन्न रहो।'' जोगी की गम्भीर वाणी शीतल वायु के नम्र थपेड़ों में थिरक उठी।''इसका यह अर्थ नहीं कि उद्योग न करो, पर

अपनी आत्मा को दरिद्र और निर्बल न समझ कर तृष्णा को न बढ़ने दो, क्योंकि तुमसे भी गिरी हुई दशा में कम से कम एक मनुष्य तो मिलेगा ही।" धन्य-धन्य की ध्वनि से वट की शीतल छाया में मानों और भी घनत्व छा गया।

"अब रात्रि अधिक हो चुकी, अपने गृहों को लौट जाओ। किसी की अन्तरात्मा को तुम से क्लेश न पहुँचे। यही कल्याणकारी पथ है। ईश्वर-प्रेम की वेदी पर कर्मों की बलि देकर कर्त्तव्यों को करते हुए निर्द्वन्द्व सो जाओ। तब कोई भी तुम्हें न सता सकेगा।"

क्रमशः भीड़ छँटने लगी। सब से अन्त में सिसिया की माता ने बगल में दबी पोटली में से निकालकर उसे कुछ खिलाया। सिसिया परोसने और जोगी बाबा के साथ खाने देने में व्यस्त थी। भोजनोपरांत सिसिया माता के साथ चली गई।

ग्रामवासियों की चिरौरी एवं सिसिया की भोली सी विनती से कारण जोगी को उस वृक्ष के नीचे टिके कई दिन हो गये। ग्रामवासियों के साथ ही साथ लगता कि उस वट-वृक्ष को भी उस जोगी से बड़ा स्नेह हो गया था और उस तरुण तपस्वी को भी स्नानादि के अतिरिक्त मानों कहीं अच्छा ही नहीं लगता था। रात्रि, दिन इसी वृक्ष की छाया में पड़ा उस मौन जोगी को अपना चिर-प्रिय पद सुनाया करता - "जोगी, मत जा, मत जा रे!" वट-वृक्ष की टहनियाँ झूम-झूम कर मानों पल्लवों से करताल बजातीं। मन्द-मन्द गति से बहती बयार भी थिरक उठती। निकट ही रसाल तरु पर बैठी कोकिला अपने पंचम स्वर में जोगी की संगत करती। जब कदाचित् किसी तरुवर पर बैठे पपीहे के श्रवणों में "जोगी, मत जा रे!" की सरस ध्वनि पड़ती तब उसके अंतस की प्रेयसी छटपटा कर कराह उठती - "पी कहाँ, पी कहाँ" और समस्त ग्राम-श्री विभोर हो उठता। जो भी सुन पाता उसका अंतर मानों एक अज्ञात्-वेदना से कराह उठता, किन्तु वह तो गाकर निस्तब्ध बैठा मानों किसी बिसरी पहेली में उलझ जाता और उस दिन सिसिया की माता से उसके बचपन की करुण-कथा सुनते सुनते वह बिसरी पहेली उसके समझ में आज मानों सजीव हो उठी थी। रात्रि में निद्रा तो, प्रयत्न करने पर भी उससे कोसों दूर थी। वह मानों स्पष्ट देख रहा था।

अठारह वर्ष की आयु में एक साधु बाबा के साथ वह गृह का परित्याग कर चुका था। यद्यपि ममता का त्याग वह इतने शीघ्र न कर सका था। उसे अपने स्वर्गीय ज़मींदार पिता एवं भक्तिमती माता का स्मरण रह-रह कर आता था। उसे

अपने कोई भाई-बहिन न था, किन्तु अपनी माता द्वारा पालित एक अनाथ नन्हीं सी कन्या से अपार स्नेह था। अपने काम के समय में अतिरिक्त दिन भर वह दुध-मुँही बालिका को लिपटाये इधर-उधर फिरता और वह बालिका भी सत्येन्द्र के बिना चैन न लेती थी। माता की स्नेहमयी लोरी में, तुलसीपूजन एवं गृहकार्यों में मीरा का एक पद गूँजा करता - ''जोगी, मत जा, मत जा, मत जा रे!'' वे ही बलिदान के संस्कार उसके हृदय-स्थल पर काँचेघट की लकीर के समान पैठ गये थे और अपने को नियंत्रण करते रहने पर भी एक दिन वह जोगी हो गया। सम्भवत: माता का वह जोग ही जोगी के रूप में उसके अंतर में पैठ चुका था। बहुत दिनों तक वह वेष बदलकर अपनी स्नेहशीला जननी एवं दुलारी बालिका को देख आता। किन्तु एक दिन!

उसका गृह सूना पड़ा था। पूछने पर लोगों ने बताया कि उन पुष्यशीला जननी का देहान्त हो चुका था और उस बालिका को उसके रिश्ते की एक बुआ अपनी छाती से चिपकाये अपने घर चली गई। इसके पश्चात् ही-

जब शशि अपनी कला को पृथ्वी पर से समेट कर अपने लोक को जाने की तैयारी कर रहे थे। कोयलों की कूक तथा तोते आदि पक्षियों का कलरव सांसारिक प्रपंचों से मलिन मानस को निर्मल बना रहा था, ऐसे ही प्रभात में पथ पर जाते उस जोगी को कदाचित इतना भी विस्मृत हो चुका था कि वह जोगी था। उसे इतना तक स्मरण न था कि उसका स्वयं-तत्व पार्थिव था या काष्ठ था।

कोई जब जोगी हो जाता है!

किन्तु? लोगों का यही कहना था कि वह जोगी था और मानव-शरीर-मय तरुण जोगी था।

जोगी चला गया, न माना, न माना। न जाने क्यों आज वयोवृद्ध वट-जोगी ने भी अपनी समाधि को त्याग कर अपनी टहनियों को हिला-हिलाकर उसे कितना रोका था। प्रात: की उमड़ती भीड़ ने तथा विदा लेते समय उस करुण एवं तरुण योगी ने उस वृद्ध जटाओं वाले जोगी के अंतस् से उमड़ती जल धारा को उसके कपोलों पर बहते देखा था। मानों उस वृद्ध जोगी के अंतस् से उमड़ती जलधारा उस दूर गये जोगी की अब भी चिरौरी कर रही थी - ''जोगी, मत जा रे।'' उसके आपस में लड़खड़ाते पल्लवों में से मानों उस वृद्ध की गिड़गिड़ाहट स्पष्ट सुन पड़ रही थी- ''जोगी मत जा रे!'' और बट-छाया में बैठी जोगी की मीरा (सिसिया) अपने विशाल नेत्रों से अविरल अश्रु धारा बहाती हुई उसके प्रिय पद को गाने में

बेसुध प्राय: हो रही थी। समस्त ग्राम ही सिसिया की उस स्वर-लहरी में लीन होकर मानों उस तरुण तपस्वी से विनती कर रहा था कि - ''जोगी मत जा - मत जा - मत जा रे।''

नोट:- सारी कहानी का सार एक ही पंक्ति यानी दृश्य पर आधारित है - ''कोई जब जोगी हो जाता है।''

जोगी:- जिसका योग अथवा सम्बन्ध, जब वास्तविक दशा में ईश्वर से सम्बन्धित हो जाता है, तब? प्रकृति के विशुद्ध भुलावे, पृथ्वी की गुहारें, आसमान के बुलावे भी उसे अपनी ओर खींचने में असमर्थ हो जाते हैं।

कोई जब जोगी हो जाता है।

सद्‌गुरु की सहज-चेतना उसके अंतस् की डोरी को जब ईश्वर से अपनी प्राण-शक्ति द्वारा इतना सुदृढ़ जोड़ देती है, तब कोई जोगी हो पाता है।

*

सहज-मार्ग में अभ्यासी

"Opening yourself to Reality" श्री बाबूजी महाराज का यह कथन वास्तविक अभ्यासी की दशा का अनुपम संकेत है। सत्य भी यही है कि जब तक साधक का हृदय साध्य के समक्ष पूर्णतया आवरणहीन होकर बिखर नहीं जाता है, तब तक यही समझना चाहिये कि अब तक हम अभ्यासी बनने का ही अभ्यास कर रहे हैं। मिशन की प्रार्थना अभ्यासी के यथार्थ रूप का द्योतक है। ईश्वर-प्राप्ति का लक्ष्य जी से लगाये हुए, खोज में तन्मय हुये अभ्यासी की अंतर्दृष्टि टकटकी लगाये रहती है, यानी मिशन की प्रार्थना की प्रथम पंक्ति ''हे नाथ! तू ही मनुष्य जीवन का ध्येय है'' इस दशा को अभ्यासी हृदय में सहज ही अनुभव करने लगता है और प्रार्थना की द्वितीय पंक्ति ''हमारी इच्छायें, हमारी उन्नति में बाधक हैं'' स्वत: ही समाप्त हो जाती हैं। ध्यान में मग्न हुए अभ्यासी के हृदय में अन्य कोई चाह उठती ही नहीं है। ईश्वर प्राप्ति की ललक उसमें सार्थक रूप से सजग हो उठती है। अब तनिक और सूक्ष्म दशा में अभ्यासी का प्रवेश हो जाता है। अपने इष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिये एकाग्र हुआ अभ्यासी का मन उसके ही मनन में मग्न रहने लगता है। तब प्रार्थना की तृतीय पंक्ति ''तू ही हमारा एकमात्र स्वामी और इष्ट है'' साधना का सार बन कर अभ्यासी के मन में समा जाता है। प्रणाहुति में डूबे अनजाने ही प्रिय को पुकारते हुए अभ्यासी के प्राण 'कब वह मिलेगा', ऐसी ही प्रतीक्षा में रत हुए जब स्वयं का भी विस्मरण कर बैठते हैं तब प्रार्थना की चौथी पंक्ति पूर्ण समर्पण की दशा के रूप में उसके अन्तर में इस तरह पिपासी होकर पुकार उठती है कि ''बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है।'' अभ्यासी स्वयं प्रार्थी रूप बनकर उसके समक्ष ठगा सा खड़ा रह जाता है। अब अभ्यासी प्रार्थी के रूप में देने वाले के समक्ष खड़ा है और प्रार्थना भी भूल जाता है मानो उसका मूक समर्पण हो जाता है। श्री बाबूजी महाराज ने एक पत्र में लिखा था कि भिखारी (अभ्यासी) ऐसा हो कि प्याला (हृदय) सामने है, तब देने वाले के अन्दर हमारी सुधि उमड़ आती है और तब दरियादिल मालिक को अभ्यासी का लक्ष्य पूर्ण करने में देर नहीं लगती। देर लगे भी कैसे, मात्र तीन लाइनों की ही तो दूरी है। उन्हें पूर्ण करने में ही अभ्यासी कितना भी समय ले ले। समय की खूबी तो यह है कि लँगड़ा कर चलने वाला भी आज श्री बाबूजी की बाँह का सहारा मिल जाने से मंजिल तक पहुँचने का दावा

कर रहे हैं। साधन केवल एक ही है कि सद्गुरु की सुधि में डूबे रहना जो हमें बेसुध बना देता है। अभ्यासी की बेसुधि यानी (Self)को भूल जाना ही उसको रिझाने का माध्यम बन जाती है। उसकी रीझ (खुशी) हमें क्षणिक भी हमारी सुधि न आने देने का कारण बन कर पुनः उसमें ही लय हो जाने को मजबूर कर देती है। जब हृदय में उनकी दैविक चाह पैठ जाती है तो फिर पावना ही पावना का मैदान समक्ष में व्याप्त हो जाता है। क्रमशः अभ्यासी वैसा ही हो जाता है, जैसा उसे होना चाहिये। तब सद्गुरु के समक्ष ठगे से खड़े, प्रेम में विस्मृत हुए अभ्यासी को वे सर्वोत्तम स्वरूप में सँवार कर, दिव्यता से सजा कर, दर्शन के लिये तैयार कर देते हैं। अभ्यासी का जीवन धन्य हो जाता है। तभी बाबूजी महाराज का यह वाक्य "Opening yourself to Reality" अभ्यासी के हृदय में वास्तविक प्रेम की दशा के रूप में निखर उठता है।

आज एक प्रश्न बहुमुखी होकर सम्मुख आता है कि ईश्वर-प्राप्ति की आवश्यकता की क्या है? उत्तर केवल यही हो सकता है कि चारों ओर छाया हुआ अशान्तिमय और परस्पर विरोधी वातावरण हमें यह संकेत दे रहा है कि मानव अपने मूल लक्ष्य से पृथक हो गया है। इतना ही नहीं विलग हुए जमाना व्यतीत हो गया है। समय की दूरी ने विचारों में परिवर्तन ला दिया, विचारों के परिवर्तन से जीवन का परम उद्देश्य दूर हो गया, और जीवन के परम उद्देश्य के ओझल हो जाने से रहनी के साथ सभी कुछ परिवर्तित हो गया है। रहनी ऐसी हो गई है जो नहीं होना चाहिए थी। विपरीत रहनी ने मानव मन की शान्ति एवं उद्देश्य को खो दिया है। परिणामतः आज स्थिति ऐसी हो गई है, जैसे बिना पंख का पक्षी। ऊपर उड़ने की चाह उभरी थी तो पाँख न होने के कारण धरती पर ही बिखर गये। फड़फड़ाहट (अशान्ति) बढ़ने लगी, खोज की आदत जो हमें मूल से विरासत में मिली हुई थी, उसने जोर मारा तो विचारों के परिवर्तन ने उस खोज को भौतिकता की ओर मोड़ दे दिया और उसके ही ताने-बाने में हम उलझते ही चले गये। श्री बाबूजी के कथनानुसार ''मानव की हस्ती ग़िलाफ दर ग़िलाफ हो गई, हमारी असलियत हमसे ही छिप गई।'' ईश्वर की बनाई दुनियाँ में रहने के बजाय हम अपनी ही बनाई दुनियाँ में रहने लगे। घर अर्थात् केन्द्र से पृथक हो जाने के कारण हम पृथक व्यक्तित्व में ही जीने के लिये विवश हो गये। आपस में अनुपम सैहार्द-स्नेह को विस्मृत कर एक दूसरे से उलझने लगे और श्री बाबूजी महाराज के कथनानुसार हम वही करने को मजबूर हो गये, जो हमारा Mind कहने लगा। इसी कारण आज पुनः ऐसे अभ्यास की आवश्यकता हुई जिसके द्वारा हम शाश्वत्, शान्तिमय और पावन आदि

मन:स्थिति को पुन: पा जायें। आज ऐसे शिक्षक की आवश्यकता हुई जो मानव के अन्तर में दिव्य प्राणाहुति का प्रवाह देकर अपनी अमोघ इच्छा शक्ति द्वारा विचारों की संकीर्णता को दूर करके हृदय को ईश्वरीय प्रकाश से प्रकाशित कर दे। सहज-मार्ग साधना के अंतर्गत श्री बाबूजी महाराज ने मानव मन को ऐसे ही सहज अभ्यास की दिशा प्रदान की है। हृदय में Divine Light का विचार लेकर उसमें डूबे रहने के अभ्यास से हृदय मस्तिष्क और कुल सिस्टम में उस प्रकाश का फैलाव होने लगता है। अंधेरे से हम पुन: प्रकाश (दिव्यता) की ओर उन्मुख होने लगते हैं। दिव्यता का प्रसारण पाने से संकीर्णता रूपी कीचड़ साफ हो जाती है। उधर श्री बाबूजी महाराज द्वारा सतत् प्राणाहुति का प्रवाह पाकर मानव मनस में सोई हुई दिव्य चेतन शक्ति जागृत अवस्था में आ जाती है। फलस्वरूप मन में ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा तीव्र गति से तड़प उठती है। इच्छा से लगाव और लगाव से ध्यान में स्थायित्व और स्थायित्व की दृढ़ता प्राप्त हो जाने पर सद्गुरु से योग पाये हुए मन सहज ही ईश्वर (प्रिय) से चिपके रहने का अभ्यस्त हो जाता है। क्रमश: इस दशा में भी परिपक्वता आने लगती है। अन्तर्मुख हुआ मन अनजाने ही मानों लक्ष्य को पहचानने लगता है। भौतिक इच्छाओं व आकांक्षाओं का उठना समाप्त हो जाता है। आवश्यकता पड़ने पर हमसे वैसा ही काम होता है जैसा होना चाहिए। अभ्यासी उसमें उलझ नहीं पाता है। क्रमश: सहज साम्यावस्था का फैलाव कण-कण में व्यापने लगता है और वह संस्कार-बंधन से परे उठ जाता है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में अभ्यास का अर्थ स्वयं में अपनी पूर्ण परिभाषा है। अभि+भास अर्थात् जिस क्रिया द्वारा हृदय में ईश्वर की प्रतीति उभरने लगे उसका आभास मिलने लगे वही सांचा अभ्यास है। अभ्यास के भी भेद होते हैं। निरन्तर कुछ करते रहने के लिये ही जो पूजा की जाती है, उसे क्रियारत अभ्यास कहते हैं। ऐसा अभ्यास अभ्यासी की आदत बन जाता है एवं उसका लगाव लक्ष्य के बजाय साधना से हो जाता है। दूसरा अभ्यास जिज्ञासु का होता है, जो लक्ष्यरत् होता है। वह अभ्यास द्वारा अन्तर में लक्ष्य की समीप्यता का परमानन्दमय अनुभव पाता है। ईश्वरीय समीप्यता का सेंक अन्तर में व्याप्त हुई स्थूलता एवं आवरण को पिघला कर बाहर निकाल देता है। फिर दिव्यता से सँवार कर उसे ईश्वर प्राप्ति के लिये तैयार करता है। अर्थात् एक में तो हम एक आदत का योग पाते हैं और दूसरे अभ्यास में से अभ्यासी भी घट जाता है। स्वयं के होने की प्रतीति भी समाप्त होकर ईश्वर से योग पाता हुआ एक दिन वह योगी हो जाता है।

सहज मार्ग में अभ्यासी का सर्वस्व श्री बाबूजी हैं, उनका एक ही मिशन है एवं एक ही लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति का है। क्योंकि श्री बाबूजी महाराज सहज सा मार्ग लेकर जो धरती पर अवतरित हुए हैं, उसमें उनका केवल यही उद्‌देश्य है कि मानव मात्र श्रेष्ठतम् अवस्था को प्राप्त करते हुए ईश्वर-प्राप्ति के लक्ष्य को प्राप्त करें। उनकी पावन प्राणाहुति शक्ति का समन्वय आज दिव्य-सत् युग का सन्देश लाई है। श्री बाबूजी महाराज के कथनानुसार भले ही वे वक्ता न हों, साइलेंसर ही हों, किन्तु मैंने देखा है कि उनके प्रति समर्पण में वह जादू होता है जो अभ्यास में दिव्य निखार के रूप में सिर पर चढ़ कर बोलता है। उनके प्रति समर्पण के अभ्यास द्वारा हृदय में उन सूक्ष्म दशाओं का प्रादुर्भाव सहज ही होता जाता है जो दिव्य-लक्ष्य-प्राप्ति की दिशा में प्रेरक और आवश्यक है। ईश्वर को पाने के लिए हृदय में ईश्वरीय प्रकाश का आवाहन कर उसमें डूबे रहने के अभ्यास से भौतिक अंधकार दूर हो जाता है। हृदय में प्रेम की विह्वलता विस्तार पाने लगती है। विह्वलता की तपिश भौतिक विकारों को जलाकर राखकर देती है। तब अभ्यासी के अन्तर में हमें Divine की पावन एवं प्रिय उपस्थिति की सतत् अनुभूति मिलने लगती है। कबीर का कथन ''सद्‌गुरु धारा निर्मल धारा, वा में काया खोई रे.... तब ही वैसा होई रे'' दैविक-दशा दो रूप में अभ्यासी के अन्तर में प्रत्यक्ष हो उठती है। क्रमशः वह सहज, सुखद अनुभूति भी सहजता को प्राप्त होने लगती है। अभ्यासी को निरन्तर प्रतीत होता है कि उसका हृदय विशुद्ध शीशा है, जिसमें मुस्कुराता मालिक उसे अपने में समेट लेने के लिये आकर्षित कर रहा है। उसे समक्ष पाकर अधीर हुआ अभ्यासी, हृदय के आइने में बैठे हुए मालिक बाबूजी में लय रहने की सूक्ष्म-दशा को पीने लगता है। परिणाम स्वरूप उसका सूक्ष्म रूप पिघल कर Reality में मिलना प्रारम्भ हो जाता है। तब अभ्यासी को ऐसा अनुभव में प्रत्यक्ष उतरने लगता है कि ''वजह (ईश्वर) और दशा, जो Side by side चलते हैं, अब दशा, वजह में समाने लगी है'' और समाती जा रही है। दशा की अनुभूति की अवस्था तक तो अभ्यासी को परमानन्द की अनुभूति मिलती जाती है किन्तु जब इसकी रसानुभूति भी मालिक में ही समा जाना चाहती है तो उस दशा का वर्णन करने के लिए शब्द नहीं मिलते हैं। न तो वाणी का माध्यम होता है, न अनुभूति का रस होता है, तब जो 'वह' कहता है और हम सुनते हैं। वह भी इस तरह से कि शरीर अलग किन्तु प्राण एक ही प्रतीत होते हैं। अभ्यासी का अभ्यास सिद्ध हो जाता है। देने और पाने का माध्यम (प्रेम) भी देनेवाले में ही लय हो जाता है। अभ्यासी Divine श्री बाबूजी को स्वयं में पाकर निहाल हो जाता है। यही कारण है कि ऐसी दशा को

पाया हुआ अभ्यासी जिधर भी निकल जाता है, सब उसकी ओर देखने को विवश हो जाते हैं, क्योंकि दिव्यता की लहर समस्त वातावरण पर छाये बिना नहीं रह सकती है। मानव मन कैसा ही नास्तिक हो सब के अन्तर उस वातावरण से ईश्वरीय शक्ति को मानने के लिये विवश हो जाते हैं।

श्रीबाबूजी महाराज के सहज-मार्ग साधना की सरलता एवं सहजता मानव मात्र के लिये अनुपम देन है। मानव को पुन: उसकी सहज-गति प्रदान कर देने का उनका अथक प्रयास एवं अद्‌भुत क्षमता सराहनीय एवं मर्मस्पर्शी है। मानव मन में दिव्य लक्ष्य को प्राप्त करने का सहज उपाय उन्होंने लक्ष्य के ही ध्यान में डूबे रहने का अभ्यास देकर सहज कर दिया है। पावन-प्राणाहुति का प्रवाह देकर अपने प्रेम की देख-रेख में पाल कर अभ्यासी के अन्तर में सोई हुई उस क्षमता एवं दैविक-होश को जागरृत कर दिया है, जो उसमें उसका ही अंश होने की याद को उभार लाई है। श्रद्धा से झुका हृदय उनके लिये दो शब्द भी नहीं कह पाता है। उनके द्वारा पाई हुई पावन-प्राणाहुति शक्ति द्वारा अभ्यासी के हृदय में जो दिव्यता उभरती है, वह वास्तव में अवर्णनीय होती है। सहज-मार्ग साधना द्वारा ध्यान में सतत् डूबे हुए अभ्यासी के तन में स्फूर्ति, वाणी में अन्दर्दशा की सच्चाई, बन्धुत्त्व की सहज-भावना में ओत-प्रोत व्यवहार, मन में सहज साम्यावस्था एवं अन्तर में व्याप्त ईश्वरीय तेज अभ्यासी के द्वारा मानों समाज को इस बात का संदेश दे रही है कि वर्तमान युग, मानव-मात्र के लिए ईश्वर-मिलन का स्वर्णिम युग है।

*

अन्धेर नगरी

(टिप्पणी - नाविक से तात्पर्य परमात्मा से है। ज्ञानू-ज्ञान है। माँ आत्मा है। पिंडारों से तात्पर्य, जीवन, मृत्यु, अभिमान, सुख दुखों से है। सात समुद्र से तात्पर्य है ईश्वरीय धारा द्वारा आत्मिक गतियों के समुद्र, फिर जहाँ एक समानता का साम्राज्य है, जहाँ माया का बन्धन नहीं, जहाँ ईश्वरीय कानून नहीं, सहजता का मधुर साम्राज्य है।)

*　　　*　　　*　　　*

'केवल भावना में बहता हुआ मानव सिन्धु पार नहीं कर सकता', नाविक विचार-मग्न है। सिन्धु पार करने के लिये चाहिये शक्ति, दृढ़ता एवं बुद्धि। बुद्धि से परे, मानव होगा इस पार या उस पार। बुद्धि की नाव में दृढ़ता एवं शक्ति की पतवार, पुनः उसके ऊपर भाव का पाल लिये नाविक एक नहीं असंख्य समुद्रों से पार पहुँच सकता है, किन्तु?

''किन्तु क्या सोच रहे हो नाविक! प्रेम की शीतल बयार सदैव अनुकूल ही रहेगी?''

दिन विदा होने को था। सूर्य भगवान अस्ताचल पर पहुँच कर विश्राम लेने लगे थे। संध्या की लालिमा ने दिशाओं के साथ क्रीड़ा करते हुए तरूपल्लवों एवं पृथ्वी को भी अपनी छवि से अनुरंजित कर दिया था। सरिता का निर्मल प्रवाह सिन्दूरी हो चुका था। ऐसे ही समय में विचार मग्न बेचारा नाविक सरिता के तट पर एक बड़े से ढेक पर जल में पैर डाले बैठा था। सरिता का निर्मल जल पुनः पुनः मित्र के चरण-चुम्बन कर लेता था। परन्तु मित्र तो मानों अचेतप्राय था।

''कौन सा प्रश्न, कौन सी समस्या इधर तुम्हें अपने में उलझाये रखती है? तुम अनमने से रहते हो, सुचित्ते नहीं होने पाते। बोलो न नाविक, क्या मैं तुम्हारी कोई सहायता नहीं कर सकती?'' मधुर रव से नाविक मानों स्वप्न से चौंक उठा।

''क्या है ज्ञानू की माँ। क्या भोजन करने चलूँ?''

''नहीं, नाविक, तुम मुझे भुलावे में न डालो। मैं देखती हूँ कि प्रातः का शीतल समीर, ऊषा की अरुणाई, ज्ञानू की भोली सी तोतली बातें तुम्हें भुलावा नहीं दे पातीं।

तुम्हारी मानसिक क्षुधा को शान्त नहीं कर पाती। शरद की शुभ्र धवल ज्योत्सना, सरिता के निर्मल प्रवाह की शीतलता भी तुम्हारे मन को स्पर्श तक नहीं कर पाती। क्या कारण है नाविक। बता दो न। मैं तुम्हारे पथ में काँटा कदापि न बनूँगी, भय न करो। अथवा क्या मेरी दृष्टि ही धोखा खा रही है, साफ-साफ बता दो न?''

''ऐसी तो कोई बात नहीं है, ज्ञानू की माँ। जिसे तुमसे छिपाने की आवश्यकता मुझे है। तुम्हारी दृष्टि धोखा नहीं खा रही है, बल्कि यह प्रेम का वह प्रतीक है जो दूध का दूध और पानी का पानी कर देती है। इधर कई दिनों से मुझे एक प्रश्न चैन नहीं लेने देता। तुम तो जानती ही हो कि आजकल शहरों तथा गाँवों में भी पिंडारों का दल मनुष्य को एक क्षण भी चैन से बैठने नहीं देता। खुले बाजार लूट होती है, परन्तु क्या इसका कोई उपाय नहीं किया जा सकता है? कहते हैं, सात समुद्र के पार सब अच्छा ही अच्छा है, तो क्या इन्हें वहाँ नहीं पहुँचाया जा सकता? किन्तु?''

''किन्तु क्या नाविक! सुना है वहाँ समुद्र में नावें नहीं चलाई जा सकतीं। किसी में इतनी शक्ति ही नहीं रही, जो उसमें नाव को खे कर पार लगा सके। ज्ञानू की माँ के नेत्रों से झर-झर अश्रु गिर रहे थे, जिससे उसका देदीप्यमान मुख भींग गया था, ''भला क्यों इतने परिश्रान्त हो तुम, और किसी को भी तो इतनी चिन्ता नहीं है? दिन पर दिन पिंडारों की संख्या में न्यूनता के बजाय अधिकता ही होती जाती है। दिन दहाड़े मानव सरे आम लूटे जाते हैं। स्त्री, बालक, बालिकायें तथा स्वजन सम्बन्धी सभी का तो अपहरण किया जाता है। धन एवं मान का तृषित मानव उसे भी खो बैठता है। किन्तु? नेत्रों पर पलक ही पड़े रहते हैं। उनके उत्पातों से पीड़ित रहते हुए भी वे फ़रियाद नहीं करते हैं। क्यों? सम्भव है आलस्य और अविश्वास के कारण। और? स्वयं अपने में ही इतनी शक्ति उत्पन्न करें, सो भी नहीं होता, तो भला सोचो नाविक हम उनके लिये कर ही क्या सकते हैं। अपने पैरों में कोई स्वयं कुल्हाणी मारे तो इसका क्या उपचार हो? उसी डाली पर बैठे हुए उसे ही काटना-इस बुद्धि-रोग की भी कोई औषधि हो सकती है नाविक? तुम्हीं सोचो, मेरी बुद्धि काम नहीं देती।''

''चलो ज्ञानू की माँ! भोजन करें। फिर कोई उपाय सोचेंगे। ज्ञानू भी खेल कर लौट आया होगा, भूखा भी होगा।'' यह कह वह उठ खड़ा हुआ और ज्ञानू की माँ साथ हो ली। दोनों धीरे-धीरे अपने झोपड़े की ओर बढ़ चले।

दिन आते हैं और ढल जाते हैं। रात्रि आती है, झिलमिल तारों की साड़ी पहिने, परन्तु इससे क्या? मद में मस्त हृदयों पर इसका प्रभाव? सुदृढ़ झोपड़े में दोनों स्त्री-

पुरुष चले गये। ज्ञानू आकर लिपट गया बापू के पैरों से। "हम तुमसे नहीं बोलेंगे बापू, तुम भी तो नहीं बोलते?"

"नहीं मेरे लाल! तुम मुझसे रूठे थोड़े ही रह सकते हो? ज्ञानू के बिना मेरा प्रकाश ही नहीं।" नाविक भोजन कर रहा था। "किन्तु कुछ तो उपाय सोचना ही होगा ज्ञानू की माँ?"

"तो सोचो न? मुझे जैसा कहो, मैं तत्पर हूँ और मैं भी बापू"

बोल उठा ज्ञानू।

"हाँ, हाँ भाई, तू क्या करेगा?"

"जो बता दोगे बापू।"

मुस्कुरा उठा नाविक। मानों पिंडारों के उत्पातों से पीड़ित मानवों के उपचार की औषधि का प्रकाश उसके नेत्रों के सन्मुख झिलमिला उठा हो। "कल प्रात: ही मैं जा रहा हूँ कुछ समय के लिये और ज्ञानू को भी अपने साथ ले जाऊँगा।" किन्तु? वह विचार-मग्न है। "क्या तुम अकेली रह लोगी ज्ञानू की माँ?"

"तो क्या मैं डरूँगी?" मुस्कुरा उठी वह। "सती कभी अकेली नहीं हो सकती। फिर यहाँ न पिंडारों का भय, न भय का साम्राज्य. यहाँ सभी तो सत्य प्रकाश, वेद प्रकाश एवं कितने की प्यारे बालक नित्य उपस्थित रहते हैं। मेरा जी भी लगा रहेगा। तुम जाओ, मेरी चिन्ता न करो।"

प्रात: का शीतल समीर मन्द-मन्द गति से बह रहा था। कल-कल करती हुई सरिता मन्द गति से प्रवाहित थी। योगिक वेष में चला जा रहा था नाविक। चारों ओर हरियाली ही हरियाली छाई हुई है, किन्तु अपनी बस्ती पार होते होते प्रकृति-आनन्द भी मूक हो जाता था, मानों पिंडारों के भय ने प्रकृति को भयभीत कर दिया हो।

मार्ग चलने लगा था। कोई इधर जाता था, कोई उधर। सब व्यस्त थे। योगी को देखकर भी मानों अनजाने से चले जाते थे मानव। उनके नेत्रों में इतनी ज्योति कहाँ, जो सत्य का अन्वेषण कर सकें और खोज तो दूर, सत्य की प्रतीति के लिये चाहिए थी लक्ष्य की दृढ़ता, किन्तु उसका था अभाव। सब ओर से बेपरवाह सा चला जा रहा था योगी अपने ज्ञान में मस्त। सन्यासी ने उसे गृहस्थ देखकर मुख फेर लिया एवं गृहस्थों ने उसे अपना सा ही मान लिया। "कहाँ से आते हो महाराज?" एक

क्षीण प्राय स्वर का प्रश्न था। ''यहीं निकट बस्ती से आ रहा हूँ, और यह मेरा पुत्र ज्ञान है।'' उसने कन्या को अपने ज्ञानू की ओर देखते हुए उत्तर दिया।

''परन्तु? परन्तु क्या मुनियाँ?''

''तुम तो योगी से प्रतीत होते है'' कन्या उसे साथ लिये गृह की ओर अग्रसर हो रही थी। घर आ गया, परिचय हुआ। कन्या के साथ वाले उनके संग से बड़े प्रसन्न थे।

अचानक एक दिन - ''राम नाम सत्य है'' की ध्वनि केसाथ ही सब की दृष्टि सड़क की ओर घूम गई। ''लूट ही लिया पिंडारे ने'' योगी ने कहा। ''अंधेर नगरी में लोग इसी प्रकार लूटे जाते हैं, फिर भी लुटना ही सब को भाता है।'' सब की दृष्टि योगी के मुख पर थी। उसके एक-एक शंब्द मानों व्यथा व करुणा से पूर्ण थे। दो एक दिन पश्चात् ही वह चल पड़ा कहीं और एकाध दिन कहीं टिकते टिकाते वह फिर रहा था निरीक्षण में। कोई न कोई इक्का-दुक्का उसे अपनाने वाला निकल ही आता जहाँ वह टिक रहता। बस पुनः चल पड़ता। ज्ञानू भी कौतूहल वश सब कुछ देखता सुनता, परन्तु ऐसा कुछ रुचिकर न प्रतीत होता था। ''बापू! इतना हम तुम घूम आये परन्तु न ही इतना प्रकाश मिला, जहाँ चैन की साँस लेते, तभी तो यहाँ सब को पिंडारे बहुत सताते हैं। हमारी बस्ती में पिंडारों का भय नहीं।''

''क्यों कि बेटा! हमें भी तो उनका भय नहीं। चलो ज्ञान-चर्चा और सुनते चलें।''

''चलो बापू!'' उस ज्ञान-चर्चा में समुदाय एकत्रित था। कोई कह रहे थे - ''जो कोई ठगों से विजय पाले वही कामयाब है। कबीर भी कह गये हैं। कौन ठगवा नगरिया लूटल हो।'' फिर बोले - ''कहने को कह लो भाई, म्याऊँ के गले में घण्टी कौन बाँधे।'' दूसरे बोले - ''मनुवाँ बड़ा हरामी है, नहीं तो सब ठीक हो जाये।'' तीसरे बोले - ''चंचलम् हि मनः कृष्ण'' तो इतने बड़े अर्जुन तक से भगवान ने कहा है।

"किन्तु असम्भव नहीं यह भी उन योगेश्वर ने बताया है।" बापू मन ही मन बुदबुदाये। ''कथनी से रहनी कुछ कठिन है, परन्तु सम्भव है।'' कह कर उठ पड़े बापू।

''चलो बापू! अब घर लौट चलें।'' ज्ञानू बोला।

''हाँ बेटा! चलो, तुम्हारी माता राह देख रही होगी।'' लौट पड़े दोनों गृह की ओर। सब दृश्य देख लिया, सुन लिया, समझ लिया। ''वह देखो बापू, अपनी

बस्ती आ गई।'' धारा प्रवाहित है। झीना-झीना सा प्रकाश हो रहा है। दोनों पिता-पुत्र को आये देख गृहणी आ गई द्वार पर।

''कहो, तुम्हारी चिन्ता कुछ दूर हुई? देख आये सब दृश्य? क्या लोगों ने उपाय कार्यान्वित करना प्रारम्भ कर दिया?''

''नहीं, ज्ञानू की माँ। अन्धेर नगरी में कौन सुनता है किसकी? हाँ, इतना अवश्य है कि जहाँ तहाँ प्रकाश बिन्दु अवश्य उपस्थित हो गये हैं।''

''अंधेर नगरी'' बड़बड़ाई ज्ञानू की माँ। ''अन्धेर नगरी, प्रकाश नहीं है माँ।'' बोला ज्ञानू। ''अन्धेर नगरी?''

''किन्तु प्रकाशित होगी।'' शान्त भाव से कह रहा था नाविक।

*

राम-मिलन के काज सखी मोहे आरति उर में जागी री

वास्तव में भक्ति की अभिव्यंजना जैसी मधुर, अनूठी एवं मर्मस्पर्शी है, वैसी ही अनुपम, पावन, अन्तरबेधिनी, आतुर अंतर की पुकार है कि - "राम मिलन के काज सखी मोहे आरति उर में जागी रे।" ऐसी मधुर एवं आतुर अंतर की पुकार है, कोई धैर्य रखे भी, तो कहाँ तक? कोई संतोष लाये भी तो कैसे और कहाँ से लाये- जब कि आने-जाने का मार्ग तो हमारा उर ही है। प्रियतम 'राम' से मिलने की आरति ही नहीं उठी वरन् अन्तर में आर्त वेदना और विह्वलता की अग्नि जल चुकी है। फिर भला प्रज्वलित अग्नि मेंसे किस माई के लाल का साहस है उसमें प्रवेश कर के कोई भी सामान बचा ले। दूसरे बाहर की लगी को तो एक बार फिर भी जल के छींटों से बुझाने का कम से कम प्रयास तो किया जा सकता है, किन्तु उर की लगी तो सब कुछ स्वाहा करके स्वयं अपने को पाकर ही शान्त हो सकती है, दूसरा हमारे पास भला उपाय क्या है? इस पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि यह संतोष एवं लाचारी उन्नति में बाधक, हमारी कमजोरी का ही लक्षण है। सांसारिक दृष्टि से यह कथन एक बार सत्य भी हो सकता है, परन्तु आध्यात्मिकता का अपना एक अनोखा ही क्षेत्र है। उसमें जहाँ एक ओर तो यह लाचारी दूसरी ओर उसमें पग रखना तलवार की धार पै धावना भी है। इस प्रेम रूपी तलवार का गुण भी विलक्षण ही है, "अशाँ देखी काती अति घनी जो एक से दो करे, बहलोल काती दी जो दो से एक करे।" अर्थात् हमने देखा है कि तलवार तो काटकर उसे दो टुकड़े कर डालती है, परन्तु इस दैविक प्रेम रूपी तलवार का मुख्य काम कुछ विचित्र ही है, जो दो से एक कर देती है। बस इस दो को एक करने वाली पीर ही आरत एवं तड़प के रूप में उर में जन्म लेती है। इतना ही नहीं दृढ़ता एवं धैर्य की असीम अवस्था तब आती है, जबकि अपने से मिलने की धुन में चलते-चलते हम एक समय समत्व के अविरल एवं सहज-सागर में गहरे चले जाते हैं और फिर न जाने क्यों उबरना भी नहीं चाहते हैं। इसीलिये उबरने के लिये हाथ-पैर नहीं फेंकते। एक दिन आतुरता की पुकार की वही कमजोरी हमारे लिये बाधक न हो ईश्वरीय शक्ति एवं सामर्थ्य प्रदान करने वाली बन जाती है। इसका तात्पर्य एवं मुख्य कारण लक्ष्य की श्रेष्ठता है, जिससे यही आतुरता आगे सामर्थ्य की दायिनी

बन जाती है क्योंकि जिस महावृक्ष में बड़े-बड़े हाथियों को बाँधते हैं, वह जब नन्हा सा पौधा होता है, बकरियों से सुरक्षित रखने के लिये उसके इर्द-गिर्द बाड़ा लगाना पड़ता है, हर प्रकार से उसे सम्भालना पड़ता है। उसी प्रकार चिराग को हल्का सा झोंका लग जाने पर वह बुझ जाता है, परन्तु वही ज्योति जब जंगल की घास, पत्तियों या काठ को पकड़ लेती है, तो सारे वन को जलाकर राख कर देती है। इसी में सामर्थ्य होती है तब जो चीजें पोषक होती हैं, वही सामर्थ्य के अभाव में घातक प्रमाणित होती है। हमारी यह पुकार वास्तव में कमजोरी नहीं वरन् अपने लक्ष्य में समर्पण की द्योतक होती है। जिस प्रकार बिना Positive के Negetive work नहीं कर सकता अर्थात् घर में बिजली का Current भी ले लिया जाय, किन्तु बिना Switch on व Plug न हो तो हमें विद्युत प्रकाश नहीं मिल सकता है और न हमें उससे विद्युत-पंखे की हवा ही मिल सकती है। इसी प्रकार श्रेष्ठ लक्ष्य में हृदय रूपी Plug को चिपकाये बिना हमें परम पावन ईश्वरीय-प्रेम नहीं प्राप्त हो सकता है और न ईश्वरीय धारा रूपी मन्द-मन्द बयार, उर में अन्तर में सतत् बह कर हमें दिव्य गतियों का आनन्द ही प्रदान कर सकती है। लक्ष्य योग रखने के प्रयास द्वारा ही प्रियतम् 'राम' की सामीप्यता का अन्तर में आभास लगता रहता है, जो हमें नित्य नवीन स्फुरण एवं नित्य नवीन रस का रसास्वादन कराया करता है। कितना सुन्दर एवं सत्य कथन है कि -

"ऊँची जात पपीहरा, पियत न नीचो नीर।
कै जाँचत घनश्याम सों, कै रहि धुनत शरीर॥"

लाचारी एवं चिपकन में एक विशेषता और है कि यदि ईश्वर से कुछ माँगते हैं तो माँगने का अदब आ जाता है। सो एक बार हमारे परम पूज्य एवं प्रिय 'श्री बाबूजी' महाराज ने लिखा बादशाह सिकन्दर ने उस भिश्ती से जिसने उसकी जान बचाई थी, ईनाम देने को कहा तो उसने कहा 'मुझे अपना राज्य दे दो।" बादशाह ने कहा - "तुमने हैसियत से अधिक माँगा" तो उसने कहा - "मुझे पाँच अशर्फियाँ दे दो।" बादशाह ने कहा - "यह तुमने मेरी हैसियत से कम माँगा।" अर्थात् उसे कुछ न मिला। ..... हो सकता है, कि हमें भी माँगना न आये और खाली हाथ वापस लौटना पड़े इसलिये 'मालिक' के स्मरण और प्रेम, ध्यान, जो भी बन पड़े, उससे भरे हृदय रूपी आंचल को 'उसके' आगे ही फैला दें। 'वह' चाहे जो ले ले, चाहे दे। किन्तु नहीं, हमें तो अपने मन की गागर में अपने प्यारे ईश्वर को, श्री बाबूजी को अन्तर में पैठा लेना है। जिस किसी भी प्रकार, बस यही हमारी साधनी की सफलता है। इसके अतिरिक्त कोई चाह ही मन में नहीं उठ

सकती है। कोई दूसरा ध्यान लाने पर भी हृदय में नहीं आ पाता। मन एवं दृष्टि में 'राम' से मिलने की मोहिनी एक मधुर बान पड़ जाती है, अन्तर चक्षु खुल जाते हैं और धीरे-धीरे उसका भी पसारा हो जाता है, क्योंकि जहाँ पर अन्य विचारों का बन्धन नहीं, वहाँ फिर क्या है? पसारा ही पसारा। किन्तु उस पसारे में हमारा मैं सम्मिलित नहीं होता है। फिर तो कुल पृथ्वी हमारा अपना ही कुटुम्ब हो जाती है, एवं सभी से सहज-स्नेह हो जाता है। हमारे व्यवहार में दैविक पावन-प्रतिछाहीं झलकती है और हम अबोध शिशु की भाँति इस बात को भी भूले से, बिसरे से ही फिरते हैं। एक ओर तो हम प्रेम की सजीव प्रतिमा ही होते हैं, दूसरी ओर हमारा हृदय पवित्र एवं सुदृढ़ वैराग्य का मानों स्वरूप ही हो जाता है, क्योंकि उसका लक्ष्य तो अपने 'राम' के चिरन्तन रूप में लयलीन रहना ही हो जाता है। तो फिर उसे राग कहाँ, वैराग्य कहाँ, संसार कहाँ और शरीर कहाँ? उसके तो जन्म-जन्मान्तरों से एकत्रित संस्कार, आंतरिक दृष्टि की स्थिरता के कारण आ-आकर परम लक्ष्य प्रियतम् ईश्वर में स्वत: ही समाते चले जाते हैं। तब वास्तव में सांसारिक-कार्यों का ही नहीं वरन्, प्रेम, भक्ति एवं उस आर्त विह्वलता का भी कर्त्ता कोई और ही हो जाता है। हमने तो अपने अन्तर में परम् लक्ष्य ईश्वर को ही स्थापित कर लिया होता है। प्रथम तो वह केवल साक्षी रूप में हमारे साथ रहता है। फिर दैविक आविर्भाव में ही उसका पता मिलता है। सच ही हमारी आँखों में लोनी लग जाती है, जो ज्योति को वास्तविक-ज्योति पुंज में समा जाने को विवश कर देती है और उसे कहना ही पड़ता है:-

> ''सन्मुख मेघ मयूर है, सन्मुख चन्द्र-चकोर।
> मैं इतना ऊँचा उठा, गया दृष्टि से दूर॥''

हमारे हृदय का एकतारा इसी मौन संगीत पर थिरक उठता है कि :-

> ''कान्ह भये प्रानमय, प्रान भये कान्ह मय।
> हिय में न जानि परै, कान्ह हैं कि प्रान हैं॥''

कहते हैं कि एक बार क्रोध में बावला राणा कर में नंगी तलवार लिये आया और बोला - मीरा, तू अभी-अभी किससे बोल रही थी, तेरे सामने कौन था, तेरे साथ कौन था? शीघ्र ही बता, नहीं तो तेरे टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगा।'' वह प्रेम की सुदृढ़ मूर्ति मुस्काई और बोली - ''राणा, मेरे सामने वाला तो अन्तर में समा गया और साथ वाला तेरे सामने ही बैठा है। कर दो टुकड़े यदि तुम कर सकते हो। राणा, मीरा के टुकड़े तो तुम कर नहीं सकते क्योंकि वह तो गिरधर के अन्दर समाई हुई

है और गिरधर के टुकड़े भी कदाचित न कर सकोगे, क्योंकि वह तो मेरे में, तेरे में, इस तलवार में सर्वत्र ही तो समाया हुआ है।'' लाचार राणा लौट गया और मन्दिर में कोई मधुर-स्वर लहरी पुन: लहरा उठी:-

''जो पहिरावे, सोई पहिरूँ, बेचे तो बिक जाऊँ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, बार बार बलि जाऊँ॥''

यह वास्तविक बात तो कहनी ही पड़ती है कि 'राम' से मिलने की इस आरति को, इस विह्वलता को समझा सकने के लिये विधना ने कोई शब्द रचे ही नहीं। हमारे 'श्री बाबूजी' का कितना पावन एवं स्पष्ट कथन है कि:-

''मोहब्बत मानियो अलफ़ाज़ में लाई नहीं जाती।
यही ऐसी हक़ीकत है जो समझाई नहीं जाती।।''

प्रश्न अब यह उठ सकता है कि आखिर यह आरति उर में उठी ही क्यों? न यह आरति उठती, न अग्नि लगती। उत्तर यह है कि वैसे तो जल की आवश्यकता हर व्यक्ति को हर समय ही रहती है, किन्तु जल की एक बूँद का महत्व रेगिस्तान में भ्रमित हुए उस पथिक के लिये कितना विशेष हो जाता है, जो कि उसके लिये मृग-जल का सहारा लेकर भटकता हुआ दूर निकल जाता है। इसी प्रकार इस संसार रूपी रेगिस्तान की मृग मरीचिका में भ्रमित मानव सुख व चैन की खोज में और भी भटक जाता है। वह आंतरिक आर्तना या वेदना जो उसके साथ ही लगी फिरती है, वह भाँति-भाँति के ऐश्वर्य, भोगों एवं आनन्दों की प्राप्ति होते हुए भी मानव को चैन नहीं लेने देती है, क्योंकि वह तो जहाँ से आया है वहीं जाना चाहता है। जैसा आया था, वैसा ही जाने पर उसे चैन की छाँह मिल सकती है। बात ठीक ही है कि शरीर में जहाँ खुजली होती है, वहीं खुजलाने से वह मिट जाती है और हमें तभी चैन भी मिल पाता है। खुजली दिल में है और खुजलाया दिमाग में तो फिर चैन कैसे मिले। किन्तु चैन किसे मिलता है, जो एक ही जून मोटा-झोटा खा कर ईंट का तकिया लगाकर 'मालिक' के सहारे बेखबर सो जाता है। तब हमारे मन में यह विचार अवश्य ही आता है कि आख़िर यह धन्य-मानव कौन सी बूटी खा कर उन्मुक्त अवस्था में बेखबर पड़ा हुआ है? तभी हमारे मन में हमारे 'राम' की आंतरिक प्रेरणा मिलती है एवं तभी हमें यह प्रतीत होना प्रारम्भ हो जाता है कि यह सच्चा सुख एवं आन्तरिक निश्चिन्तता कुछ नहीं, केवल टट्टी की ओट शिकार-मात्र ही है। मिलौनी या जो एक सो दो हो जावे हमें भटकाती रहती है, वही आरत के रूप में प्रकट हो कर हमें पुन: दो से एक के पसारे में ले आने को

आकुल-व्याकुल रहती है। किन्तु कब? जब हम अपनी चाल को सीधा कर लेते हैं एवं चाल तभी सीधी हो सकती है, जब कि हमें पूर्णरीत्या ठिकाने वा लक्ष्य का विचार बना रहता है। ठिकाने का विचार भी तभी बना रहता है, जब हम उस परम् प्रियतम 'राम' के ही, जो कि सर्वत्र रमा हुआ है, हो बैठते हैं किन्तु उसके हो बैठना तब नितान्त सरल एवं सहज हो जाता है जब कि हम अपने आपको खो बैठते हैं। एक दिन हम सत्य ही अपने को खो बैठते हैं, जब कि अपने प्रियतम् के अतिरिक्त दूसरा विचार हमारे मन में आता ही नहीं है। कितना मधुर एवं सत्य कथन है कि :-

"प्रियतम् छवि नैननि बसी, पर छवि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, आपु पथिक फिर जाय।।"

यदि हमारे मन की गागर 'उसके' प्रेम की बाढ़ से लबालब हो जाये तो फिर किसी अन्य की गुजर ही कहाँ हो सकती है। तब हमारा मन तो अपने 'मालिक' से मिलने के निश्चय से परिपूर्ण हो जाता है, जिससे अपने सारे सुखों व आरामों को हम तिलांजलि दे चुके होते हैं। तभी वह दिन आता है कि - "राम-मिलन के काज जगी" आरत उसे 'राम' के दरबार में ला खड़ा करती है। यद्यपि अभ्यासी का हाल भी बेहाल हो जाता है। वह बेचारा गरीब, खाली हाथों अपने होने के भाव से ही वीरान हुआ फिरता है। पते का भी उसे पता नहीं रहता, होश-बेहोश की उसे खबर नहीं मिलती। सच ही एक गरीब का भेद भी यही है कि बेचारे के पास कोई भेद नहीं होता है। ऐसे ही प्रिय महापुरुष जिस बड़भागी के हृदय में विराज जाते हैं फिर चाहे वह शत्रु हो या मित्र, उसका हृदय हम व हमीं से वीरान ही हो जाता है। यह केवल न हृदय में बैठने का फल होता है, परन्तु यदि वह मन में बस गया, फिर तो वह अपना सा ही बना कर छोड़ता है। वह हृदय अथवा मन की थाती ही ले डूबता है, क्योंकि वह तो उसका स्वाभाविक गुण ही है। जहाँ से शुरुआत है वही अन्त है, यही अध्यात्मिकता का रहस्य है तभी कदाचित हमारे श्री बाबूजी महाराज का कथन कि - "याद वही जो कभी न आवे," ईश्वरीय-गति के रूप में हममें स्पष्ट दृष्टिगत् होता है। इन दिव्य भेदों का भेद भी कैसा सरल है कि वह अभेद है। वास्तविक बात यही है कि जब हम झरने के पास पहुँचते हैं, तब न तो हमें जल के समाप्त हो जाने का भय रहता है और न ताप ही का कष्ट रहता है, ऐसे ही जब हम श्रीबाबूजी के ध्यान रूपी सागर में जा पैठते हैं, तब न तो हमें अपने आन्तरिक-आनन्द के चुक जाने का भय रह जाता है और न त्रिविध-ताप ही उन शीतल चरणों तक पहुँच

कर हमें पीड़ित कर पाते हैं। सांसारिक पीड़ा एवं सुख का तो अनुमान भी नहीं पहुँच पाता है क्योंकि संसार उसके लिए एक बेगाने अनजान शहर की भांति ही हो जाता है। प्रियतम् बाबूजी के चरणों की वह सलिला एवं हमारे हृदय में समाया पावन, निर्झर, अखण्ड व अनन्त ईश्वरीय धारा का श्रोत हमें प्रतिक्षण कुछ का कुछ बनने एवं बनाने की दिव्य शक्ति प्रदान करता रहता है। तब हमारी गति, मति एवं रति का सतत दैविक योग हो जाता है। मन को कुछ अच्छा लगना यह भी चाहे आध्यात्मिक-गतियों के आनन्द की अनुभूति क्यों न हो हमारी दशा के समत्त्व को कुछ न कुछ विचलित ही कर सकती है। इसलिये चाहे हम भले ही इस भेद को न पकड़ पायें, किन्तु समर्थ सद्गुरु श्री बाबूजी की दृष्टि से बच कर निकलना असंभव होता है। मुझे स्मरण है कि Point U की अलौकिक आनन्द-गति को पाने के लिये जब मैंने अपने श्रीबाबूजी से दोबारा इच्छा प्रकट की तो 'आप' ने अत्यन्त स्नेह के साथ समझाते हुए लिखा था कि- ''वैसे तो उस अवस्था को पुन: लाना सरल ही है, किन्तु गुरु का धर्म है कि बच्चे को ऊपर ही ले जाये, नीचे न देखने दे, इसलिये मैं मजबूर हूँ। वैसे यदि तुम चाहो तो वर्तमान गति को बगैर हटाये, दबाकर ही उस गति को उभार दूँ।'' बस इतना पढ़कर मेरी दृष्टि फैली की फैली ही रह गई और मुझे चेत आ गया।

बात भी सत्य है कि जब मन वृहत् मन में ही समा जावे, फिर हमें जो कुछ भी प्राप्त होता है वह सतत् ही होता है ओर जो सतत् है, वही सत्य है। बस इसी सत्य को ढूँढ निकालने के लिये ही उर में आध्यात्मिकता का जन्म होता है। महत्-शक्ति से पृथकत्व होने के कारण ही हम जन्म-जन्मान्तरों से दर-दर मारे-मारे फिरते रहे। भटकते-भटकते जब कभी हमें सद्गुरू श्री बाबूजी का सत्य सहज-द्वार मिल गया है तो फिर हमारी सारी भटकना एवं सांसारिक आर्त्तना स्वत: ही शान्त होकर एकमात्र ईश्वर की ही ओर रुख मोड़ लेती है। जिस प्रकार समुद्र के नीचे बड़े-बड़े गहरे सुनसान स्थान होते हैं कि जहाँ पर कठिन से कठिन आंधी की भी गम्य नहीं हो सकती, उसी प्रकार श्रीबाबू जी की कृपा रूपी पतवार, अर्थात् सहज-मार्ग साधना का सहारा लेते-लेते हम हृदय की अथाह गहराई में डूबते-डूबते बहुत दूर एक सुनसान दैविक-स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं जहाँ धूल में लुढ़कने पर भी हम स्वच्छ बने रहते हैं। निरन्तर हलाहल पीने (कष्ट आने) पर भी मरते नहीं, बल्कि उस अमृत-कुण्ड (दिव्य-स्थिति) में सराबोर रहते हुये ऐसा जीवन पा जाते हैं, जहाँ मृत्यु की गम्य नहीं। आँधियाँ शान्त हो जाती है, तूफान समाप्त हो जाते हैं और सब शाश्वत् ही हो जाता है।

आत्म-नियंत्रण, आत्म-विकास का मेरूदण्ड है। आत्म-विकास अन्तर में पैठे बिना पाना असम्भव ही है। आत्म-नियंत्रण जहाँ लौकिक फलार्थी की जरूरतों को पूर्णता प्रदान करता है, वहाँ वह आत्मिक वैभव के आकांक्षी की भी इच्छा पूर्ति में सहायक होता है।

वैसे आत्मिक-विकास के लिये अनेकानेक-क्रियायें तथा जप, तप, दान यज्ञादि साधन बताये गये हैं, किन्तु ईश्वर-प्राप्ति की आरत उर में जागे बिना आध्यात्मिक क्षेत्र से एक पग आगे बढ़पाना असम्भव है। हमारे 'श्री बाबूजी' का कथन है कि- ''तड़प अपना रास्ता खुद ही टटोल लेती है।'' सत्य ही है ईश्वर के अतिरिक्त भाँति-भाँति की क्रियाओं में प्रियता रखने वाले बन्दा घानी के बैल की तरह गोलाकार घूमा करता है, किन्तु ईश्वर या सहज-मार्ग साधना में दृढ़ता रखने वाला बन्दा उस घानी व गोलाई का उलंघन कर स्वतंत्र मैदान में ईश्वर की ओर तेजी से दौड़ता है और 'उसे' प्राप्त करता है। ईश्वर से दूर होने का कारण केवल यही है कि मनुष्य इस बात को विस्मरण कर जाता है कि ईश्वर उसके अन्दर ही निवास करता है। दार्शनिक नावेलिन का कथन है कि - There is one temple in the world and that is the human heart.

अर्थात् संसार में ईश्वर का केवल एक ही निवास स्थान है, और वह मनुष्य का हृदय है। कहते हैं कि एक बार भक्तमयी रबिया रोती जाती थी और चिल्लाती जाती थी कि काबे और काशी में आग लगा दो, क्योंकि घर के पीछे लोग घर वाले को भूल गये हैं। सत्य ही जीवन भर पूजा-पाठ करने पर भी उर में मिलन की विह्वलता एवं तड़प नहीं जाग पाती है। अपने बनाये साधना के घेरे में ही हम आराम करते रहते हैं, ईश्वर के दर की तो हमें सुधि ही नहीं आती है। हम मिट जाते हैं, हमीं ज्यों की त्यों हमसे चिपकी रहती है। वास्तव में 'मालिक' की भक्तवत्सलता का दर्शन भी हमें उससे मिलने की विह्वलता की दशा में ही प्रत्यक्ष दृष्टिगत होता है। विह्वलता की चरमसीमा से 'मालिक' की कृपा भी चरम-सीमा पर पहुँच जाती है। विरह, मिलन के लिये अन्तर में कुरेदना प्रकट करता है और विह्वलता अभ्यासी के मन को मथ कर उसकी अन्तर स्थिति में ईश्वर को प्रकट कर देती है। विरह में कुछ अंश में धैर्य की कुछ मिलौनी रहती है, जब कि विह्वलता या आरति इस से रहित ही होती है। विह्वलता भरी तड़प में प्रेम भी स्वतः लय होने लगता है, किन्तु हम इससे भी अनजान (विस्मृत) ही रहते हैं। अपने 'राम' से मिलने की आर्त्तना में तो हमें उसका भी होश नहीं रहता है। सच तो यह है कि हम तो ईश्वरीय-दशा में लय होते हुये 'उसको'

अपना बना लेते हैं। हृदय तन्मय होते हुए भी यही रटना लगा देता है कि ''जित देखूँ तित तोय''।

बस यही उर में लगी दैविक आरति का संक्षिप्त सार है जो सहज-मार्ग साधना में प्रगट हो जाता है।

कैसा अनुपम अनोखा आध्यात्मिकता का क्षेत्र है? कितना साहस है एवं कैसी कसौटी है, यह अभ्यासी के लिये प्रेम की हर दशा को, प्राण ले लेने वाली तड़प (पीर) को; बावली अवधूत-गति को भी संसार में किसी के समक्ष बिना प्रकट किये मन की मन ही में पी लेने का प्रयत्न किया करता है। मन की पीर चाहे मन को खा जाये, आँखों में समाई लोनी चाहे भौतिक दृष्टि के सारे लहू को चूस जावे, परन्तु वह जिह्वा पर उफ नहीं लाता। किसी के सामने अपनी दिल की लगी को रोता नहीं क्योंकि उसका मालिक सदा-सदा के लिए उसका अपना हो जाता है। यही तो उसका दृढ़ निश्चय था फिर निश्चय तो निश्चय ही पूर्ण होता है। उसकी सारी कलई उस (बाबूजी) पर खुल जाती है और जब उसके पास अपना कोई राज़ नहीं रह जाता है तब उसके 'राम' का राज़ भी उस पर प्रकट हो जाता है, तब धरती की छाया आकाश को नहीं चूम पाती। मृदुता ही जिसकी वाणी एवं कोमलता ही जिसका हृदय हो जाता है ऐसा धन्य अभ्यासी जिनके जीवन में नेकी, और पवित्रता एवं ईश्वर की याद इस प्रकार लय हो जाती है, जिस प्रकार सुगन्ध और महक फूल में बसी होती है। दैविक दशा में डूबे, वासना रहित, सर्वजित हुये हम ऐसी आनोखी दशाओं के अनुपम क्षेत्र में विहार (यात्रा) करते हैं कि -

''दिया हमने जो अपने खुदी को मिटा,
वह जो पर्दा था, अब न रहा।
रहा पर्दे में अब न वह पर्दा नशीं,
कोई दूसरा 'तेरे' सिवा न रहा॥

*

अपनी-राह

''राही! ओ राही!!'' वह किंचित ठहरा, फिर चल पड़ा अपनी राह।

''राही! ओ राही'' '' वह पुनः रुक कर इधर-उधर देखने लगा, परन्तु कुछ दिखाई न पड़ा। वह आगे बढ़ चला।

''राही! ज़रा ठहर जाओ, फिर चले जाना।''

''कौन हो? क्या कहते हो भाई, कहो न, तुम तो छिप जाते हो।''

''अभी आ रहा हूँ, ज़रा सा रुक भी जाओ, राही!''

''अच्छा भाई! और क्या देखता है कि एक दुबली-पतली मानव-मूर्ति लाठी के सहारे डगमगाती चली आ रही है। निकट आकर पृथ्वी पर बैठ कर हाँफने लगा। किंचित शान्त होने पर बोला - ''तुम भी बैठ जाओ राही! थोड़ा विश्राम ही ले लो।'' वह भी बैठ कर श्रम मिटाने लगा।

''इतने दुर्बल एवं रुग्ण से शरीर को कहाँ से लिये आ रहे हो श्रमिक श्रीमन्?''

''बड़ी दूर से आ रहा हूँ राही! बड़ी दूर से।''

''ऐसा कौन सा आवश्यक कार्य था जिसके लिये तुमको ही कष्ट उठाना पड़ा?''

खांसते-खँखारते बोला वह ''क्या करोगे जान कर? जीवन में अनेक कँकरीले-पथरीले-पथ पार करने पड़ते हैं और उन्हें तय करता है मानव, चाहे रो कर करे, चाहे हँस कर करे। रोते वे हैं, जिन्हें सुख-शय्या ही प्यारी है, सुकोमल पुष्प जिनके चरण-चुम्बन किया करते हैं, और नवनीती सेमर जिनके सिर को सहलाया करती है, जो पुष्पों में से काँटे चुनकर अलहदा फेंक देते हैं उनके जीवन का सृजन रोने को ही होता है। किन्तु जो पुष्पों के बीच से काँटे चुनकर सहेज लेते हैं, जिनकी मंजुल शय्या धरती और नीलम से जड़ी चादर ही ओढ़नी है, वे ही हँसते हैं और हँसते हैं, उनका हँसना ही विद्युत-माला तथा उनकी मधुर मुस्कान ही शीतल चन्द्र-छटा है। ऐसी श्रेष्ठ विभूति का दैविक सृजन सदा-सदा के लिये होता है। उन्हें विनाश का भय नहीं सताता।''

''तुम कौन हो? कहाँ से आये हो? कौन सा आवश्यक कार्य तुम्हें इस वन के मध्य से गुज़ार कर लिये जा रहा है? क्या मैं यह सब जानने का साहस करूँ राही?''

''अवश्य?'' और विस्मृत अवाक् सा नेत्र फैलाये उस मानव कंकाल को निहार रहा था, जिसकी शब्द रूपी फुहारों से अन्तस् में शान्ति की बौछार हो रही थी और उसमें राही पढ़ रहा था जीवन के ज्वार भाटों के चलचित्र। श्रमिक के मुख पर श्वेत श्रम-कण झलक रहे थे और उसके मुख पर एक अपूर्व ज्योत्सना खेल रही थी और राही उसके मन पर टकटकी लगाये था। ''कुछ अपनी भी कहो राही?''

तब एकाएक चौंक कर वह कण्ठ साफ करने लगा, मानों बोल पाने के लिये उसे शब्द नहीं मिल रहे हों। क्षण भर संभल कर वह बोला ''मुझे ऐसे एकान्त स्थान की चाह थी, जहँ पर मानवों का स्वर और पक्षियों की चहचहाहट तक न सुन पड़ें।'' अचानक ही ठहाका लगा कर हँस पड़ा श्रमिक। राही बेचारा उसका मुख देखने लगा। ''ऐसा स्थान इस संसार में ढूँढते हो? कहाँ पाओगे ऐसा स्थान, जब कि कीट पतंगों की भनभनाहट, झींगरों की झंकार से तो कोई भी दिशा रहित नहीं है। ऐसा बीहड़ स्थान तुम्हें बाहर संसार में तो कहीँ भी न मिलेगा। राही! उसे खोजने इतनी दूर क्यों आ गये, उसे तो अपने में ही टटोला होता।''

और राही! इसकी तो मानो सिटिल्ली ही भूल गई थी। वह तो विस्मृत था श्रमिक की बातों से। बोला- ''अन्तर के आनन्द के लिये ही तो मुझे बीहड़ की खोज थी। यदि ऐसा कहीं मिल सकता, तो मैं बाहर की क्यों भटकता श्रमिक?''

''भोले राही! किंचित विचारो, जहाँ जगमगाते चौराहे होते हैं, वहीं सुनसान गलियाँ भी मिलती हैं। जहाँ संसार की बहारें हैं, वहाँ बीहड़ बस्तियाँ भी पाई जाती हैं।''

''साफ़-साफ़ कहो श्रमिक! मैं ठीक नहीं समझ पाया।''

''कह तो रहा हूँ कि जहाँ द्वन्द्व है, वहाँ निर्द्वन्द्वता की गुज़र कहाँ और जहाँ द्वन्द्व है वहाँ बीहड़ को कहाँ खोजोगे और कहाँ पाओगे?'' आदरणीय श्रमिक- ''ऐसा क्यों है?''

''भाई, बन्धन में ही स्वतंत्रता की खोज होती है। जहाँ स्वतंत्रता का ही साम्राज्य है, वहँ उसकी आवश्यकता ही क्या है। राही! बोलो न?'' राही चुप है। उसके अंग-अंग में शिथिलता की अनुभूति हो रही है, मानों उसकी भूल ने उसे संकुचित कर दिया हो।

''क्या मुझे अपना परिचय दे सकोगे श्रमिक?''

"क्यों नहीं, किन्तु अपना रूप तो मैं स्वयं हूँ, फिर तुम्हें क्या परिचय दूँ राही, मैं वह प्रकाश हूँ, जिस पर पतिंगे बलिहार नहीं जाते, मैं वह मशाल हूँ, जिससे मानव सदा को प्रकाश ले सकता है, किन्तु मुझे कोई प्रकाशित नहीं करता।"

"तुम्हारे जैसे मानव की ही आवश्यकता है संसार को। श्रमिक तुम प्रकट क्यों नहीं हो जाते संसार में?"

"मैं तो प्रत्यक्ष ही हूँ। मानव ही आते हैं और अपनी राह चले जाते हैं। डगमगाती लाठी की ओर किसी की दृष्टि ही नहीं पहुँच पाती है राही।"

"भाँति-भाँति के ठगों से बचकर कोई किस प्रकार तुम तक पहुँचे श्रमिक? एक न एक व्याधि, विपत्ति घेरे ही रहती है मनुष्य को।"

"भोले से राही! सोचो तो। कुत्ते भौंकते हैं और राही अपनी राह चले जाते हैं। बिजली कड़कती है, बादल गरजते हैं, किन्तु धीर सदा ही अपनी आन पर अड़े रहते हैं। संसार-चक्र इसी प्रकार चलता रहता है और मानव-चक्र इसमें रहते हुए भी इससे परे चल सकता है।"

"किन्तु संसार-चक्र में पिसता हुआ मानव क्यों कर वहाँ पहुँचे श्रमिक?"

"जो वहाँ के लिये चल पड़ता है, वह पहुँच ही जाता है। जो पहुँच जाता है, वह अपनी राह स्वयं पा लेता है। बोलो राही! अब पा गये न अपनी राह?"

हाँफता हुआ श्रमिक लाठी टेककर उठ खड़ा हुआ और धीरे-धीरे वृक्षों के झुरमुट में विलीन हो गया।

और,

सच ही विमोहित सा राही चला जा रहा था और पा गया था,

अपनी राह।

(नोट- राही का तात्पर्य मानव की वास्तविक स्थिति (सत्य पद) से है। श्रमिक - ईश्वरीय-विभूति)

*

हीर-कण

दूर सुदूर से प्रभात-रागिनी बज उठी है। जिससे हृदय-तंत्री का तार-तार अँगड़ाइयाँ ले रहा है। किन्तु तू? फिर भी मौन पड़ा किसकी बाट निहार रहा है। वह आयेगा अवश्य, परन्तु उसे देर हो जायेगी, तब तक तू नित्य कर्मों से निवृत्त हो जा। मेरी नहीं सुनता, तो न सुन, प्रेयसी (प्राण-हुति-धारा) जब जगाने आयेगी, तेरे अंग-अंग में प्राण भर उठेगा। तेरी श्वाँस-श्वाँस में चेतना उमड़ आयेगी। जब सुरति की सवारी पर बैठ कर 'वह' आयेगा-तू जाग उठेगा।

* * *

किनारा दूर नहीं, यह केवल देखने मात्र से ही दूर प्रतीत होता है। ओ! माँझी, (विचार रूपी) नाव का रुख इधर मोड़ दे। तेरी नाव तो किनारे से बँधी है, सागर से इसका सम्बन्ध ही कहाँ है। सागर की लोल लहरियों पर तो तू केवल अठखेलियाँ मात्र ही करने गया था। लौट आ माँझी, लौट आ। नैया दूर है, किन्तु किनारा दूर नहीं है।

* * *

ओ माँझी! नाव किनारे ले आ। इस अथाह चौरासी लक्ष भँवरों से भरे सागर में तेरी नाव भला कितनी देर ठहर सकेगी। उस पर भी भाँति-भाँति के मगरमच्छ एवं भयानक जन्तुओं का सामना तू किस प्रकार कर सकेगा। सागर का खारा जल कभी भी तेरी प्यास न बुझा सकेगा। ओ माँझी! नाव किनारे पर ले आ।

* * *

किनारा दूर नहीं है। तू किंचित मात्र भी भयभीत न हो। नैया को इधर मोड़ ले, किनारा स्वयं ही निकट आ जायेगा। मुझे भय है कि कहीं भयानक पशु पक्षी तेरा पीछा न करें और फिर तेरे प्राण न बच पायेंगे, किन्तु किनारा निकट है, तू आ पहुँचा है।

देख, वह देख, प्रियतम् कितना सन्निकट आ पहुँचा है। अब तो केवल इतना ही शेष रह गया है कि दौड़ चल और उसे गले लगा ले। बस, तब गुड़ और शीर की भाँति तू एक हो जायेगा। फिर कोई तुझे न पहचान पायेगा और न तू ही किसी

को पहचान पायेगा। छाया-जगत विलीन हो जायेगा और केवल वही रह जायेगा, जिसे रहना चाहिए। लो, यह मिलन की बेला आ पहुँची।

टिप्पणी : तू प्रतीक है अभ्यासी का। माँझी-प्रतीक है जीव का। मगरमच्छ प्रतीक है मायाजाल का। खारा जल प्रतीक है आने जानें वाले सुख का।

*

नेह का सौदा

''महत्वाकांक्षी बनो युवक, जिसकी नींव पर चुनी हुई भीति सृष्टि के आदि से लेकर अन्त तक अटल और स्थिर खड़ी रहती है, जिसके पैरों पर खड़ा मानव पृथ्वी के क्या आकाश तक के पुष्पों को भी तोड़ कर धरणीं पर बिखेर सकता है, जिसके एक-एक गुण-मुक्ताओं को चुग-चुग कर कोई राजहंस सहेजता जाता है, उन महापुरुषों के लिये जो कि महत्वाकाँक्षी हैं।''

''भला पोखर की बत्तख क्या राजहंसिनी की समता कर सकती है, कभी नहीं'', युवक ने कुछ निराशा मिश्रित वाणी से कहा।

राजकुल आचार्य मुस्कुराये। ''किन्तु सतत् वर्षा से पोखर भी उबरा कर समुद्र की भांति लहरा उठता है युवक।''

''परन्तु समुद्र तो नही हो जाता आचार्य?''

''बुद्धिमान् युवक, तुम जन्मान्ध होते हुए भी अंधे नहीं हो। तुम्हारे ज्ञान-चक्षु ज्योतिर्मय हो चुके हैं। बोलो युवक! तुम क्या चाहते हो?''

''कुछ नहीं! केवल आचार्य की शरण चाहिये।'' युवक चरण पकड़ते हुए बोला।

''आचार्य मत कहो युवक, राजकुल-आचार्य को आचार्य कहना उनकी प्रतिष्ठा को कलंक लगाने से कम नहीं'', कुमार बोल उठा।

''कुमार! नवीन युवक अभी आश्रम के नियमों से प्रतिबन्धित नहीं है, क्योंकि वह अनभिज्ञ है।''

''क्षमा करना कुमार! आचार्य की प्रतिष्ठा उनके विशेषण से पूर्ण नहीं हो सकती। इसके लिये तो उनके कुमारों में मानसिक और आत्मिकबल की विशेषता ही आवश्यक होती है।'' युवक बोल उठा। आचार्य मुस्कुराये और कुमार मन ही मन जल उठा। ''अन्धे युवक बिना ज्योति के तुम सत्य का साक्षात्कार क्या कर सकोगे?''

''सत्य के साक्षात्कार के लिए प्रकाश नहीं, अंधकार ही हो तो क्या, वह तो स्वयं ही प्रकाशित है।'' युवक ने उत्तर दिया।

"प्रकाश में प्रकाश का साक्षात्कार कैसा! वह तो अंधकार में ही ज्योतिर्मय होता है।" आचार्य मुस्कुरा रहे थे और कुमार मन ही मन किटकिटा उठा, किन्तु आचार्य के समक्ष नियमबद्ध था।

"युवक! तुम्हारा नाम क्या है? तुम कहाँ से आते हो और कौन तुम्हें यहाँ तक लाया?" आचार्य ने प्रश्न किया। विनम्र युवक करबद्ध बोला - "मुझे दीपक कहते हैं महाराज! आचार्य का नाम एवं कीर्ति श्रवण कर के पूछते पूछते यहाँ आ पहुँचा हूँ। आचार्य! जहाँ एक दिन सब को जाना होता है, वही सब का उद्‌गम स्थान है। सदैव साथ रहने वाली आत्मा की आवाज़ ने यहाँ मुझे राजकुल-आचार्य के चरणों में ला खड़ा किया है।"

"बुद्धिमान युवक उठो! तुम्हें, तुम्हारे निवास स्थान तक पहुँचा दूँ। मैं उधर ही जा रहा हूँ। पदुम, तुम जल की बाल्टी एवं कूप इत्यादि बता देना और अंधे युवक को सहारा देना, अपना धर्म समझना।" दीपक भी अपनी लाठी का सहारा लेकर चल पड़ा। आचार्य उसकी लाठी टिकाते, सब बताते हुए चलने लगे। पदुम भी साथ हो लिया, क्योंकि उसको तथा दीपक के निवासों में अधिक अंतर न था। दीपक को उसके निवास-स्थान पर पहुँचा कर राज-कुल आचार्य कुछ चिन्तित मुद्रा में अपने आश्रम में चले गये और जा कर चुपचाप बिछावन पर लेट गये। किन्तु विचारों ने पीछा न छोड़ा, वे एक-एक करके मस्तिष्क से टकराने लगे।

एक सुदृढ़ नींव की भीति पर खड़ा हुआ था दीपक, मस्तक ऊँचा किये हुए। वह था भी ऐसा ही, गौर वर्ण, सुन्दर, सुगठित शरीर, चौड़ा ललाट और सौम्य मुख, विशाल नेत्र, किन्तु ज्योतिहीन। कहते हैं, विधाता नेत्रों की कमी बुद्धि को प्रदान कर देता है, जिससे उस न्यूनता की पूर्ति हो जाती है। ऐसा क्यों? आचार्य विचारमग्न हैं। ईश्वर ने अपनी सृष्टि में सभी को पूर्णभेजा है, किन्तु असंतोष की छाप मानव में अपूर्णता का सृजन कर देती है, क्योंकि वह स्वयं अपूर्ण है। युवक में पूर्णता का संपुट है और कुमार, वह तो अपूर्ण है और कदाचित् ऐसा ही रहेगा। परन्तु, मैं राजकुल का आचार्य? क्या मेरे लिये यह कलंक न होगा कि युवक एक जन्मान्ध दरित्र युवक-आचार्य-पद तक जा पहुँचे और वह, मेरा होकर भी अपूर्ण है, किन्तु कुमार के हृदय में से कलंकिनी स्पर्धा को निकाल बाहर करना खेल नहीं। किन्तु मुझे ऐसा करना होगा। आचार्यों के भी सर्व अन्तर्यामिन, परमात्मन् मेरी लाज रखना। मेरी आन-बान एवं कर्त्तव्यों के स्वामी, मैंने विदुर राज के कुमार को एक आदर्श युवक बनाने के लिये रक्खा था, किन्तु आधे से अधिक समय

व्यतीत होचुका, उसके मन से स्पर्धा एवं ईर्ष्या दूर न कर सका। हे जनार्दन! तुम्हारे ही करों में लाज है, जैसा चाहो करना। इधर यह युवक है। कितना अकर्षण है। श्रेष्ठ विचार, सादा रहन, महान् है युवक। परन्तु? गम्भीर हो उठे आचार्य, विदुर राज कुमार के तेजस्वी मुख मण्डल का स्मरण कर। देखा जायेगा, कुछ चिन्ता नहीं। आचार्य अपने आचार-विचार और कर्त्तव्य से विमुख न होगा।

संध्या व्यतीत हो चली। निशिनाथ अपनी रूठी प्रेयसी को मनाने के लिये भाँति-भाँति के उपहारों से उसका श्रृंगार करने लगे। रातरानी रजनी गंधी का विस्तृत आंचल पृथ्वी पर फैल गया। राज-कुल आचार्य द्वार पर खड़े होकर क्षितिज पट पर मानों कुछ पढ़ने का प्रयत्न कर रहे थे। सामने पदुम, दीपक को आश्रम से भोजन करवा कर उसकी लाठी को टिकाते हुए जा रहा था। दोनों ही किसी गहन वार्ता में संलग्न थे। आचार्य दोनों को निरख कर प्रसन्न हो उठे। भोजन का समय समाप्त हुआ। अब समस्त विद्यार्थीगण अपने शयन-कक्ष में पहुँच गये होंगे। राजकुल आचार्य प्रतिदिन के नियमानुसार आश्रम के निरीक्षण के निमित्त चल पड़े। पदचाप बचाते हुए वे शयन-कक्ष के समीप कुछ देर खड़े रह कर आहट लेते पुनः चल पड़ते। सब ओर नीरवता ही व्याप्त थी। विद्यार्थीगण निद्रा में अचेत पड़े थे। जब वे अंतिम कक्ष के निकट आये तो कान लगाकर सुनने लगे।

"भाई! पदुम, कहाँ राजकुल के आचार्य और कहाँ मैं अंधा परदेसी, किन्तु क्यों और कैसे वे मुझ बड़भागी की ओर नेह से झुक उठे।" कहते-कहते उन अंधी आँखों में भी जल छलक उठा।

"भाई दीपक! हमारे आचार्य के समक्ष दूध का दूध और पानी का पानी है। समानता ज्योति है उनकी एवम् उपरामता से ही उनके अंग विभूषित हैं।"

कितना स्नेही है दीपक! मानों उसके शरीर में सत्य स्वमेव ही साकार हो गया है। और पदुम, सौम्य, सभ्य चित्रांकन-कुमार। विचारते राजकुल आचार्य अपने शयन-कक्ष में जा पहुँचे।

प्रतिदिन ही सुन्दर प्रभात आता। पक्षियों का कलरव, चिड़ियों की चहचहाहट होती। भगवान् भास्कर भी रथ पर चढ़ कर अपनी राजधानी की खोज ख़बर लेने निकलते। और नियममित समय पर ही आचार्य पाठशाला में आते और कुमारों को भाँति-भाँति की शिक्षा दिया करते। शिक्षा के साथ ही वे विद्यार्थियों को गुनानें का भी पूर्ण प्रयास करते। किन्तु इसमें सफलता कहाँ तक अपना आंचल फैलाती, यह भी वे जानते थे। कुमार भी बुद्धिमान, परिश्रमी युवक, और स्पर्धा ने तो उसके

परिश्रम को और भी द्विगुणित कर दिया था। किन्तु दीपक! बुद्धि के साथ ही नये शील और स्नेही युवक। स्नेह में भावना साकार हो उठती है, और स्पर्धा में भावना कल्पनाहीन हो रहती है। परिश्रम से कुमार आकाश को पृथ्वीतल पर भले ही ला सकता है किन्तु सत्य को सजीवता न प्रदान कर सकता था। दीपक के ज्योतिहीन नेत्रों में यथार्थ साकार हो उठता था। लगभग दोनों में ही समानता थी, किन्तु एक की लगन-चन्द्रिका में स्पर्धा की छाँव थी, और दूसरे की नेह मय दुग्ध के समान उज्ज्वल थी। बहुधा किसी न किसी विषय को लेकर दोनों में कुछ कहा सुनी हो जाती, परन्तु दीपक के लिए बात वहीं तक रह जाती और कुमार उसे हृदय में समेट कर रख लेता।

''वह उसे नत-मस्तक करेगा। यह भी कोई बात है कि राजकुल के आचार्य क्यों अधिकतर दीपक की वार्ता को यथार्थ रूप देते हैं। देखा जायेगा! विदर्भ कुमार धन से विद्या को क्रय कर सकता है। चिन्तित, विचार मग्न कुमार बड़बड़ा उठा।

''किन्तु कुमार, सोचो, धन से तुम पुस्तकों का भण्डार भर सकते हो, परन्तु उसकी विद्या, शिक्षा एवं मनन तो धन का विषय नहीं, मन का विषय नहीं, वह तो लगन का विषय है और लगन नेह की चेरी है। स्नेह पैदा करो कुमार। राजकुल आचार्य ने आज कहा था। चिन्तित है कुमार। तो क्या उसमें स्नेह नहीं है? वह राजकुल-प्राचार्य के लिये अपने जनक, जननी को भी त्याग कर ही तो आया है, और दीपक, राही दीपक, माता-पिता का पता नहीं। स्वजन, सम्बन्धी हैं नहीं, भला वह नेह को क्या जाने? किन्तु आचार्य का कथन। दीपक के कोई भी नहीं है और सब कोई है। असंख्य पतिंगों के झुण्ड का दीपक (दिया) कोई नहीं और न वे ही दीपक के स्वजन हैं। किन्तु दीपक पतिंगो का प्राण है। होगा! व्यर्थ माथा पच्ची से क्या लाभ? अब तो शिक्षा का अंत समीप ही आ रहा है। अपार धन-राशि से राजकुल आचार्य की आंखे भी चौंधिया जावेंगी। आश्रम-वासी देखेगें, दीपक देखेगा और संसार देखेगा कि मैंने शिक्षा का मूल्य गुरू दक्षिणा से भर दिया।''

सन्ध्या-बेला है। पदुम के साथ दीपक एक वृक्ष के नीचे नत मस्तक बैठा है। नेत्रों से जलधारा बह रही है। भाई पदुम! शिक्षा का अंत समीप है, परन्तु? मैं अपने आचार्य को कुछ देना तो दूर रहा, अपने नेत्रों से उनकी सरस, स्नेह युक्त-छवि भी न निहार सका, क्या मुँह दिखाऊँगा पदुम? गुरू-दक्षिणा तो हीन से हीन विद्यार्थी भी देता है।''

''किंचित मात्र भी मन मलिन न करो। आचार्य को जो तुमने दिया, वह हममें

से कोई भी न दे सका। और वास्तव में जो तुमने उनसे लिया वह भी हममें से कोई भी उन से प्राप्त न कर सका। आचार्य को तो केवल एक ही सच्चा शिष्य मिला है और वह है मेरा भाई दीपक।'' दीपक उठ कर पदुम से लिपट गया।

''भाई पदुम! तुम्हें जीवन भर न भुला सकूँगा। तुम्हारे आभारों के भार से यह अंधी पलकें भी झुक उठी हैं। मैं दूँगा राजकुल-आचार्य को गुरू दक्षिणा। क्या? यह तुम उसी दिन देख सकोगे कि दीपक के ज्योति-विहीन नेत्र भी ज्योतिर्मय हो चुके हैं।'' उसका म्लान-मुख भी खिल उठा और वह लाठी टेकते हुए अपने कक्ष की ओर चल दिया। पदुम भी साथ हो लिया।

''क्या बात है दीपक, तुम आजकल बड़े संलग्न रहते हो? घूमते फिरते भी नहीं। अपने कक्ष में ही बैठे रहते हो, कहीं तुम्हारे स्वास्थ्य पर न आ बने,'' आचार्य ने पूझा।

''नहीं महाराज। ऐसा कुछ न होगा। आजकल मैं जितना प्रसन्न हूँ, सम्भव है, संसार का कोई भी प्राणी न होगा।''

''दीपक! तुम शिक्षा के पश्चात् कहाँ जाओगे? यहाँ आश्रम में चाहो तो मेरे निकट ही बने रहना।'' आचार्य ने वेदनापूर्ण स्वर में कहा। दीपक चुप, नत मस्तक बैठा रहा।

आज कुमार-कक्षा के विद्यार्थियों की शिक्षा का अन्तिम दिवस है। भाँति-भाँति के उपहारों की गुरू-दक्षिणा दे कर सभी अपने-अपने स्थानों को लौटने लगे। कुमार की बारी थी। अपार धनराशि की गुरू-दक्षिणा से आचार्य तथा समस्त आश्रम वासियों के नेत्र चकाचौंध हो उठे। सभी के मुख पर वाह-वाह की ध्वनि थी। दीपक भी उसमें सम्मिलित था। अब दीपक की बारी थी। सिमटा, सकुचाया सा वह आचार्य के समक्ष खड़ा हुआ। कुमार के नेत्रों से स्पर्धा झाँक रही थी और आश्रम-वासियों की दृष्टि उसके सूखे मुख पर थी। अचानक उसके करों ने कपड़ों के भीतर से लिपटा हुआ एक चित्र आचार्य के कर-कमलों में रख दिया। आचार्य के ही तद्रूप उनका तैल-चित्र। आचार्य विस्मृत हो गये।

अरे! पदुम और कुमार साथ ही चिल्ला उठे।''साधु-साधु''। अन्य आश्रमवासी एवं विद्यार्थी भाव-विभोर हो उठे। आचार्य दीपक को कलेजे से लिपटाये थे। नेत्रों से अविरल अश्रुधारा उनकी श्वेत दाढ़ी को भिगो रही थी।

''कौन इन नेत्रों को ज्योतिविहीन कहता है दीपक? वास्तव में आचार्य को

तुमने ही देखा है।'' दीपक आनन्द विभोर हो उठा। ''इस अपार धनराशि को तो मैं अपने आवास एवं आश्रम में स्थान दूँगा किन्तु तुम्हारे इस हस्त निर्मित चित्र के लिए मैं स्थान नहीं पा रहा हूँ।'' सबने देखा हर्ष से काँपते हुये दीपक के कर उठे। वह अपना वक्ष-स्थल खोल कर बोला, ''आचार्य, इसका वास्तविक स्थान तो मेरे (वक्ष) भीतर है।'' पुनः साधु-साधु की ध्वनि गूँज उठी। अंधा युवक और यह चित्रकारी। कुमार बोल उठा-चित्रकला भी ज्योति-हीन है। आचार्य मुस्कराये।

''मानव-मस्तिष्क की पराकाष्ठा उस बालक के समान है, जो अमूल्य रत्नों से भरे भण्डार की वाह्य-चित्रकारियों में और रंग-बिरंगे आवरणों को निहारने में उलझ जाता है, अपने अन्तर में भरे रत्नों तक नहीं पहुँच पाता।'' नतमस्तक कुमार की ही ध्वनि थी। सबने सुना। कुमार कह रहा था - ''समझ गया आचार्य। शिक्षा के बाजार में नेह के सौदे का ही महत्त्व है।'' आश्रमवासी चिल्लाये - ''कुछ नहीं, केवल नेह का सौदा ही महान् है।'' आचार्य की गम्भीर वाणी गूँज उठी - ''कुमार! महत्त्वाकांक्षा के बाजार में भी नेह के सौदे का ही महत्त्व है।

*

अहं की पूजा

परमपूज्य श्री बाबूजी का कथन है कि Do not create God. Worship Him as he is. सहज मार्ग साधना में इसी पर बल दिया जाता है। लोग जब पूजा प्रारम्भ करते हैं, तो पुरानी आदत के अनुसार बाबूजी से पूँछते हैं कि ध्यान में मन को टिकाने के लिये कोई चीज बताइये, मन किस पर टिकायें, आदि। यह भूल जाते हैं कि जिसका साक्षात्कार करना है, उसके ध्यान में डूबे रहना ही 'उसकी' वास्तविक पूजा है। श्रेष्ठ अभ्यास वही है जो हममे उच्च स्तर का निखार लाता हुआ वैसा ही बना देने में समर्थ है। फिर भी यह प्रश्न क्यों उठता है? उत्तर यही है कि जो हमारे मन को भाये, जिस पर हमारा मन टिक सके, पूजा भी हम अपने मन की ही अर्थात् अहं की करना चाहते हैं। यही कारण है कि जीवन व्यतीत हो जाता है पूजा करते हुए, परन्तु पूजा का फल अर्थात् अहं के समर्पण रूपी साँची अर्चना प्रारम्भ नहीं हो पाती है। भाँति-भाँति के साधन अपनाये हुए तमाम संस्थाओं में योग पाये हुए भी हम सच्चे योग से वंचित ही रह जाते हैं। योग तो अहं का ईश्वर से करना है, जो उसका अंश है। समर्पण तो अहं का होना चाहिये। परन्तु पूजा का ढंग सही रूप से हृदयंगम् न कर पाने से होने उल्टा लगता है। अहं से ही हम इतना घनिष्ठ योग पाते जाते हैं कि वह ठोस पड़ने लगता है। एक दिन ईश्वर का अंश अहं का अंश बनकर रह जाता है। हम दो रूपों में जीने लगते हैं। इच्छा करने वाला भी अहं और इच्छाओं को भरने वाला भी अहं हो जाता है। इस प्रकार Worship him के बजाय हम धोखे से अहं की पूजा करने लगते हैं। अपनी इच्छा के अनुसार ही मूर्त्ति का श्रृंगार करते हैं, अपनी इच्छानुसार ही उसे पूजते हैं। फलस्वरूप बजाय इसके कि हमारी पूजा से 'वह' रीझे, हम स्वयं ही अपने साधनों पर रीझे रहते हैं। बजाय साध्य के साधनों में उलझ कर रह जाते हैं। जब बीज ही सड़ा हुआ बोया गया तो पौधा कैसे उपजता। यही कारण है कि पूजा के द्वारा जिनसे हमारा उद्धार होना चाहिये था, वे सारी बुराइयाँ हममें पनपती रहती हैं। हमारा यही दुर्गुण दूसरों में ईश्वर के प्रति अविश्वास जो जन्म देता है।

सहज मार्ग साधना में अभ्यासियों को साधना के प्रारम्भ से लेकर सतत् रूप में ईश्वर को ही स्मरण में रखकर उससे ही अनुराग बढ़ाते रहने का अभ्यास बनाये रखने को कहा जाता है। लोग 'मालिक' को सामने या हृदय में याद रखने की बात

तो करते हैं, परन्तु 'उससे' मिलने की चाह बनाये रखने की बात भूल जाते हैं। यही कारण है कि एक दिन न जाने कब लक्ष्य प्राप्ति का उद्देश्य विचार में से फिसल जाता है और हम मनचाहे ध्यान में उलझे रह जाते हैं। दूसरे शब्दों में हम अहं अर्थात अपने मन की ही पूजा में लगे रह जाते हैं। यह अवश्य है कि ईश्वर प्राप्ति का लक्ष्य इतना सूक्ष्म है, और अहं इतना स्थूल है कि बार-बार लक्ष्य से फिसल जाने का भय बना रहता है, परन्तु इसका निदान भी तो केवल यही है कि प्रेम सहित सतत् स्मरण बनाये रखने का प्रयास ही विजयी हो जाता है। हम पुनः पुनः उमंग से ईश्वर प्राप्ति की चाह को अन्तर से चिपकाये रखने का अभ्यास करें, यही वास्तविक पूजा है। जब लक्ष्य दृष्टि में से फिसल जाता है तो स्थूल भावनायें हृदय में जन्म लेने लगती हैं। पूजा करते हुए भी विचार दूषित होने लगते हैं। जैसे किन्ही-किन्ही को हम पुराने अभ्यासी हैं। इसका ही गुमान होने लगता है, 'हम प्रिसेप्टर हैं' इसका ही गुमान लोने लगता है। दृष्टि से लक्ष्य फिसल जाने के कारण साधक या प्रिसेप्टर होने का भाव हृदय में उभर आता है। लक्ष्य से चिपकाव का आनन्द गुम हो जाता है। हमें इसका पता भी नहीं लग पाता है। सच्चा अभ्यासी 'मालिक' की याद में ऐसा लीन रहता है कि उसे तो याद करने की याद भी भूली रहने लगती है। उसे तो यह होश भी नहीं रहता कि वह कब पुराना हो गया है। उसे तो नित नया दर्शन अपने प्रिय का मिलता जाता है और उसमें वह इस तरह से विलीन हो जाता है कि वह है भी या नहीं, इसका गुमान भी उसे नहीं रह पाता है। उसने कब साधना प्रारम्भ की, वो जानता ही नहीं। नितान्त विस्मृत अवस्था में प्रिय की उपस्थिति के होश में डूबा अभ्यासी उस परम रसानुभूति में अहं की पिघलन का इस प्रकार अनुभव करता है कि मानों वह ईश्वर में लय है। उसका अपना कोई रूप है, प्रथम तो ऐसा अनुभव करता भी है, परन्तु कब धीरे से वह रूप या अहं पिघल कर जिसका अंश है, इसमें मिल जाता है, यह पता ही नहीं चलता। जब लक्ष्य से चिपके रहने का प्रयास भी श्री बाबूजी में समर्पित हो जाता है या उनमें लय हो जाता है तब स्वयं की अनुभूति दिव्य शक्ति के पुंज के रूप में बदल जाती है। मैं कौन हूँ, क्यों आया हूँ, क्या करना है, यह सारी प्रतीति भी लय हो जाती है। साँची पूजा या ध्यान की दशा में अन्तर्मन स्वतः ही लय रहने लगता है। वाह्य मन एवं वृत्तियाँ अन्तर्मन में लय होना प्रारम्भ हो जाती हैं। समर्पण की हालत अर्न्तमन में स्वतः ही पलने लगती है। जब यह सारी प्रतीति भी लक्ष्य में समा जाती है, तब 'मिलन' के अनुपम आनन्द सागर में अंतर डूब जाता है और शरीर उतरा आता है, संसार के कार्यों को सुचारू रूप में संचारित करने के लिये। फिर? समर्पण और

मिलन की दिव्यावस्था का आदान-प्रदान कब तक होता रहता है, इसका अन्दाज़ कौन रक्खे। प्रियतम तक अन्दाज़ पहुँच नहीं सकता है, क्योंकि वह तो कुल है और अभ्यासी जब अहं के दायरे को तोड़कर जिसका अंश था, उसमें ही समाया जा रहा है तो फिर अन्दाज़ कहाँ टिके। दिव्य गुण, दिव्य शक्ति के साथ क्रमश: मालिक श्री बाबूजी में लय होकर ही उनके दिव्य सौन्दर्य का निखार अभ्यासी के व्यक्तित्त्व में भरने लगता है। सहज मार्ग साधना द्वारा ध्यानावस्थित हुआ अभ्यासी या साधक, लक्ष्य प्राप्ति की पूर्णता में विकसित होता हुआ अनजाने ही संस्कारों के बन्धन से परे रहकर सहज गति से जीवन गुज़ारने लगता है। समस्यायें तब भी उससे टकराती हैं, परन्तु वे स्वत: ही टकरा कर बिखर जाती हैं, क्योंकि उसका रमाव तो दिव्य ईश्वरीय गति में हो जाता है। सुख-दुख तब भी लगातार आते रहते हैं, परन्तु दिव्य धारा में बह जाते हैं। उनसे अभ्यासी का चिपकाव नहीं हो पाता है। लक्ष्य (ईश्वर) जब स्वयं हममें जाग उठता है, विकसित हो जाता है, तो बजाय अहं के हमें अपने व्यापक रूप विराट में मिला लेता है। सत्य यही है कि जिसने हमें ''मैं'' हूँ का भान देकर अलग अस्तित्व में जीने का आभास दिया था, प्राणाहुति शक्ति द्वारा उसी शक्ति को पाकर ''मैं'' हूँ ''तू'' है में समाकर एक हो जाता है, यही उसकी साधना का फल है।

सहज मार्ग में प्रशिक्षक को भी शक्ति देकर श्री बाबूजी महाराज दूसरों को पूजा कराने के योग्य बना देते हैं, तो वैसी क्षमता को बनाये रखने एवं उसे सुरक्षित रखने का कार्य हमारा ही होता है। दो चार महीने जब तक उस दिव्य शक्ति की तेजी (Force) रहती है, तब तक हमारा अहं स्वत: ही उससे दबा रहता है और विनम्रता, उसका प्रसाद हम में विद्यमान रहता है। क्रमश: जब अहं हमारे विचार को दैविक शक्ति के दायरे से बाहर खीचना प्रारम्भ कर देता है, तो हमें लगने लगता है कि हम प्रशिक्षक हैं। तभी से '' श्री बाबूजी महाराज'' की दी हुई शक्ति, जिसका हम दुरुपयोग तो यों नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वह ईश्वरीय शक्ति है, इसलिये उसकी ही प्राप्ति के कार्य में ही वह साथ देती है। सदगुरु द्वारा प्रदत्त शक्ति से योग पाये हुए ही का उनके कार्य को सुचारू रूप से कर पाने की क्षमता हममें उत्पन्न हो पाती है। नहीं तो प्रिसेप्टर में यह विश्वास एवं दृढ़ता नहीं हो पाती है कि अभ्यासी में विशुद्ध निखार ला कर ईश्वरीय ज्योति को उसमें जगा दे। अभ्यासी की हालत को पढ़ पाने की क्षमता में भी हम पिछड़ जाते हैं। चाहिये यही कि दूसरों को पूजा कराने की शक्ति प्राप्त करते समय जिस स्तर तक हमारे अहं का समर्पण था, उसी स्थिति में लय रहते हुए प्रिय से मिलने की चाह में बेचैन रहना चाहिये। तभी काम

करने की क्षमता व अन्य बातें जो अभ्यासी में दिव्य निखार लाने के लिये आवश्यक है, स्वत: ही पैदा हो जाती हैं। जब प्रिसेप्टर हम होते हैं, तब अभ्यासी का पूर्ण कार्य हम स्वयं करें, यही शोभनीय है। सच यही है कि उनकी दी हुई शक्ति के सहित हमें उनमें ही लय अवस्था में डूबे रहना चाहिये। ''मैं प्रिसेप्टर हूँ'' ऐसा समझने से मानों हम बाबूजी से अपने को दूर रखने लगते हैं। इसलिये इतनी बड़ी शक्ति से सम्बन्धित होते हुए कुभावनायें एवं कुविचार हममें न पनपने पायें, इस पर पूरी दृष्टि रखनी चाहिये, जब तक कि अहं गलकर उसमें न मिल जाये। चाहिये यही कि हर हाल में हम असलियत को अपनाये रहें, अभ्यासी हैं तब भी और प्रिसेप्टर हैं तब भी। तभी अभ्यासी को लक्ष्य पाने के लिये और प्रिसेप्टर को अभ्यासी भाइयों की उन्नति में सहायता के लिये जिन बातों की आवश्यकता होती है, स्वयं ही उत्पन्न हो जाती है। अभ्यासी की सूक्ष्म से सूक्ष्म दशा का अन्दाज उनमें (बाबूजी में) लय रहने से ही मिलता है। यहाँ तक कि अपने न होने का एहसास भी 'उनके' होने के एहसास में समर्पित हो जाता है। प्रिसेप्टर मालिक की दी हुई शक्ति पर अधिकार पाये हुए अभ्यासी की उन्नति की सहायतार्थ अद्‌भुत क्षमता की अनुभूति में रहता हुआ भी कैसे मालिक में समाया रहता है, यह भी मालिक ही जानता है, हमें सदैव असल की चाह पैदा करना चाहिये। असलियत की चाह मानव मन की सहज माँग है, एवं यही चाह साधना का प्राण है। नश्वर चीजों की चाह लालच है, उनसे साधक को दूर रहना चाहिये।

वास्तविक साधना यही है कि हम 'बाबूजी' केपावन प्रकाश को प्रकाशित रखते हुए अन्तर को 'उनकी' उपस्थिति के अनुभव में डुबोये रक्खें। अन्तर्दृष्टि की टकटकी बाँधे, इसी ध्यान में रहने का ही प्रयत्न करें। यही साँची साधना है। यही सच्चा समर्पण है। वास्तव में वह परमानन्द जो हम ध्यान में अनुभव करते हैं, जिसमें निमग्न रह कर कब दिन निकलता है, कब रात्रि आ जाती है, अन्तर्दृष्टि द्वारा हमारे अनजाने ही उस परम इष्ट में समर्पित होती जाती है। लघुता महानता में परिणत हो जाती है। अहं पिघल कर कुल में व्याप्त हो कर ईश्वरीय हो जाता है। अभ्यास में पाई दिव्य रसानुभूतियाँ तो वास्तव में प्रियतम् Divine का श्रृंगार एवं सौन्दर्य है। 'वह' तो केवल 'जो है, सो है।' वस्त्रालंकारों की शोभा शरीर को सजाती है, बदलती नहीं है, दिव्य रसानुभूतियाँ दैविक आकर्षण हैं, जो हमें अपने माध्यम से उन में बराबर समाहित करते हुए, मिलाते हुए एक दिन मानव जीवन के परम-लक्ष्य की प्राप्ति देकर धन्य बना देती है।

सहज-मार्ग की विशेषता इसके लाने वाले सद्गुरु 'श्री बाबूजी' महाराज ही हैं जो अपनी दिव्य-दृष्टि द्वारा साधकों के अन्तर्मन का सुधार कर पावन-प्राणाहुति-शक्ति का प्रवाह देकर मन की स्थिति में विशुद्ध निखार लाने में पूर्ण समर्थ है। अपनी अमोघ इच्छा शक्ति द्वारा क्रमशः अहं की स्थूलता को ईश्वरीय सेंक से पिघलाते हुए ईश्वरीय प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। परिणामतः साधक का अर्न्तमन ईश्वर के ध्यान में लीन हो जाता है। ईश्वर दर्शन का प्यासा मन दिव्य दर्शन का ज्ञाता हो जाता है। अंतर्चक्षु दर्शन में डूब जाते हैं। बहिर्मुख मन भी बोल उठता है कि - ''बेगि ही बूड़ि गई पखियाँ, अंखियां मधु की मक्खियाँ भई मेरी। '' अहंता ईश्वरत्व में विलीन हो जाती है। व्यक्तित्व व्यापक हो जाता है। बूँद (अहं) सागर (ईश्वर) में मिल जाती है।

*

मिट्टी का घरौंदा

ग्रीष्म की चिलचिलाती दोपहर थी। बाहर पैर रखते ही मानों सिर चटक जाता था। पानी की प्यास तो बुझती ही न थी। वृक्ष और पौधे जो पुराने थे, वे तो घाम लेते-लेते उसके आदी हो चुके थे। किन्तु नवीन पौधे प्रात: और सायं सींचने पर भी बेचारे सूखे जाते थे, परन्तु चतुर माली तो मानों बाज़ी लगा चुका था कि वह अपने लगाये पौधों में से एक भी कम न होने देगा। तपते सूर्य की किरणों में ही वह अपनी छोटी सी कोठरी में बैठकर उन छोटे-छोटे पौधों के पनप कर बढ़ने एवं फलने फूलने का स्वप्न देखा करता। उसे मानों कोई और काम ही न था। उसकी बुद्धि में ऐसे ही विचार घर कर चुके थे। उसकी सारी शक्ति मानों उस उद्यान को ही समर्पित थी। इसीलिये तो उद्यान भी उसे पाकर मानों हँस उठा था। उसमें कभी अंधेरा न आने पाता था। भाँति-भाँति के पक्षियों के सुमधुर अलाप से वह गूँजता रहता था। रात की रानी ने उसकी शोभा को द्विगुणित बना दिया था मानों सुघर माली को प्राप्त कर वह झूम उठा था। और माली? उसका तो मानों वही प्राण था। उसके कोई घर में अपना था नहीं। वह तो उसी निर्जीव को सजीवता प्रदान करके उसके ही लालन-पालन में आत्म-विस्मृत हो चुका था। स्वामी उससे बहुत प्रसन्न थे। उद्यान की वाह वाह जो थी।

एक दिन?

माली, यह मेरा छोटा पुत्र आज ही लखनऊ विश्वविद्यालय से छुट्टियों में घर आया है और वे फिर कोठी की ओर चलने लगे। माली हो तो ऐसा। उसने सुना, कोई स्वामी से कह रहा था, किन्तु उसे तो अपने काम से काम था। स्वामी ने पुकारा - "चन्दन इधर तो आना।" तब वह उठकर धीरे से मालिक के पास जा कर चुपचाप खड़ा हो गया।

"भाई चन्दन, तुमने तो सच ही उद्यान को उद्यान बना दिया है।" युवक ने कहा। "मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ, कुछ इनाम माँगो।"

"मालिक! इनाम! मैंने किया ही क्या है, जो इनाम माँगू छोटे बाबू।"

"नहीं चन्दन, तुमने हमारी कोठी की शोभा में चार चाँद लगा दिये हैं। हमारा उद्यान कितना प्रसिद्ध हो चुका है। फिर भी कहते हो कि मैंने किया ही क्या है?"

"सच ही कहता हूँ छोटे मालिक।" उसने सिर डाले ही उत्तर दिया। "मैंने तो केवल अपना कर्त्तव्य पूरा करने का प्रयत्न किया है एवं अपनी ही शोभा बढ़ाने का यत्न किया है।"

"सो कैसे? माली, तुम मेरे उद्यान की शोभा हो, तुम्हें पाकर ही यह सुशोभित हो उठा है।"

"मेरे मालिक! यदि उद्यान की शोभा माली है, तो माली की शोभा ही क्या? बस इस उद्यान के द्वारा मैंने अपना ही तो श्रृंगार किया है और यह भी नहीं वरन् उस ईश्वर के निमित्त इन रंग बिरंगे पुष्पों का चयन करके उचित स्थान पर सजाकर मैंने कोई बड़ा काम तो नहीं किया। उस महा कारीगर की बनाई वस्तुओं को केवल यथोचित रीति से सवाँर कर रख देने से मैं स्वयं कारीगर तो नहीं कहला सकता छोटे बाबू।" और छोटे बाबू का मन उद्यान से भी अधिक चन्दन की ओर आकर्षित हो चला था। उसकी आन्तरिक उत्सुकता जाग उठी थी।

पिता जब कारखाने चले जाते तो घंटो वह माली के पास बैठकर बातें किया करता था। उसे उसकी भोली सी बातें बहुत भातीं थीं। वह पीले गुलाब की क्यारियाँ सींच रहा था। निकट ही फुहारों से लगे चबूतरे पर बैठे थे छोटे बाबू। "क्यों चंदन! तुमने उस दिन उस महा कारीगर का नाम न बताया कि जिसने यह सम्पूर्ण रचना की है।" "क्या करोगे जानकर छोटे मालिक।" उसने लापरवाही से उत्तर दिया।

"क्या तुम मुझे बताना नहीं चाहते?"

"उसका कोई एक नाम तो नहीं है, अनेकों नाम हैं।"

"फिर भी?"

चन्दन हर्षोत्सुक बोल उठा - "वह महा कारीगर ईश्वर के नाम से पुकारा जाता है, एवं उसके ही दिव्य-प्रकाश में ध्यानावस्थित हो रहता है मानव।"

"किन्तु चन्दन! अशिक्षित होने पर भी तुम्हें इतना ज्ञान क्यों कर उदय हुआ।?"

इस प्रश्न से चौंक कर माली क्षण भर मौन, मानों दूसरे संसार में खोया बैठा रहा। "ज्ञान का उदय ध्यान से होता है और ध्यान का उदय किसी विषय पर एकाग्र-चित्त होकर समझने से होता है।"

"तुमने यह सब कैसे जाना?"

''जिसने ध्यान बताया था, उसी की कृपा से पढ़ भी गया।''

''तुम लिख तो पाते नहीं चन्दन?''

''हाँ! मैं लिख नहीं सकता, किन्तु इतना समझ गया हूँ कि इस शक्तिमान् मालिक का स्मरण करते-करते मन तद्रूप हो जाता है।''

''चन्दन! मैं सब कुछ जानना चाहता हूँ।''

''ध्येय के बिना ध्यान पूरा नहीं होता।''

''तुम्हारा ध्येय क्या है चन्दन?''

''ईश्वर तक पहुँचना।''

''यह किसने बताया?''

''मेरे समर्थ श्री बाबूजी ने।''

''वे कहाँ हैं?''

''वे सर्वत्र हैं।''

''क्या वे कुटिया में रहते हैं?''

''नहीं, वे गृहस्थ हैं।''

''क्या गृहस्थी के झंझट में पड़कर भी मावव ऊँचा उठ सकता है?''

''क्या राजा जनक गृहस्थ नहीं थे? समस्त ब्रह्माण्ड ईश्वर की ही गृहस्थी है।''

''ईश्वर कहाँ है?''

''वह सदैव हमारे साथ है।''

''चन्दन ! कल मैं जा रहा हूँ, छुट्टियाँ समाप्त हो गईं।''

''अपना कर्त्तव्य ही मुख्य है।''

''अच्छा, चलता हूँ चन्दन।''

''हृदय में एक लौ सी लगी हुई है। अच्छा चलता हूँ।'' चन्दन हर्ष के आँसू भरे मुस्कुरा रहा था क्योंकि वह जानता था कि मिट्टी का वह घरौंदा फूट चुका था, जो मानव को अपने में भुलाये रखता है।

नोट : मिट्टी का घरौंदा - भौतिक-मोह

*

आत्म-समर्पण

कहते हैं 'गागर में सागर' भरा किसने देखा? बात ठीक है। भला गागर में सागर? विचित्र बात है, किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में बात विचित्र होते हुए भी यथार्थ है। ईश्वर में लय-अवस्था प्राप्त होने पर हमें इसका स्वत: प्रमाण भी मिल जाता है। लय-अवस्था आत्म समर्पण का सुन्दर परिणाम होता है जिसकी प्रतीति, मात्र अनुभव से ही सम्बन्धित होती है। जहाँ तक मेरी अंतर्दृष्टि गई, तो पाया कि श्रवनी और कथनी से रहनी भिन्न होती है। फिर आत्मसमर्पण? यह तो एक अनोखी अलौकिक गति है। यह आध्यात्मिकता में एक अनोखा ही क्षेत्र है, जिसमें क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ एक ही हो रहते हैं। एक विचित्र साम्य सी गति है, एक भोली सी सकल निर्मल दैविक गति है। सम्भवत: इसीलिये साधक को प्रेम की हल्की-फुल्की, निर्दोष स्थिति प्राप्त होते ही आत्म समर्पण स्वत: प्रारम्भ हो जाता है। मैं तो यही कहूँगी कि यह अवस्था (आत्म-समर्पण) प्राप्त करना हमारे अपने ही हाथ (अभ्यास) का काम है। फिर भाई, इतना सा तो साधक का कर्त्तव्य भी हो जाता है। 'श्री बाबूजी', श्री रामजन्द्र मिशन के अधिष्ठाता ने तो, जैसा कि प्रथम 'सहज-मार्ग' अंक में 'उनके' लेख में निकल भी चुका है, सहज-मार्ग साधना द्वारा प्रेम उत्पन्न हो जाने का उपाय भी बता दिया है। श्री रामचन्द्र मिशन में मैंने प्राणाहुति (Transmission) द्वारा ऐसी प्रेम की अनन्त दुर्लभ गतियाँ भी अनुभव गम्य पाई हैं। मैंने तो यही पाया कि अपने इष्ट में श्रद्धा और विश्वास से जो आकर्षण उत्पन्न होता है, इसी चीज के थोड़ा आगे बढ़ने पर हममें प्रेम की उत्पत्ति होती है। प्रेम उत्पन्न होते ही समर्पण स्वयं ही प्रारम्भ हो जाता है।

प्रेम में Self के स्वत: Surrender होते जाने का ही विशेष महत्त्व है। साधक की साधना भी, तभी सफल होती है, जब वह दीवाना मर-मिटने के लिये तत्पर हो जाता है। समर्पण के अर्थ हैं कि अपने आपको अपने इष्ट के हवाले कर दें फिर अपने होने के भाव को ही भूल जायें। वास्तव में यदि हम ईश्वर-प्राप्ति करना चाहते हैं तो हमारा एक ही लक्ष्य हो और हम अपनी दृष्टि को इसी में समाये रक्खें। फिर तो भाई, मैंने देखा कि ऐसी गति हो जाती है कि-

मन थिर, चित थिर, सुरति थिर, थिर भया सकल शरीर,
ताके पीछे हरि फिरें, कहत 'कबीर-कबीर'।

फिर एक दिन ऐसा आ जाता है कि न हमें दृष्टि की चिन्ता होती है और न लक्ष्य का होश। फिर तो लक्ष्य ही हमारी दृष्टि है और वही हमारी चेतना, वही हमारा हम हो जाता है। ऐसे अभ्यासी की स्थिति क्या होती है? स्वतंत्र और निरंकुश। उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं होता। वे वन में अथवा श्मशान में सुख की नींद सोते हैं। लय अवस्था में ज़रा सा भी पैरने पर अभ्यासी की क्या दशा हो जाती है, और वह क्या सोचता है, एक श्लोक स्मरण हो आया-

'क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत,
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम।'

"वह संसार कहाँ चला गया? उसे कौन ले गया? यह कहाँ लीन हो गया? अहो, बड़ा आश्चर्य है, जिस संसार को मैं अभी देख रहा था, वह कहीं दिखाई नहीं देता है।" फिर भी अभी समर्पण होते हुए भी आत्म समर्पण पूर्ण नहीं हुआ। जहाँ तक मेरा अनुभव है 'आत्म-समर्पण' के अर्थ है, अपनी आत्मा का भी इष्ट में अर्पण ही नहीं, वरन् उसमें लीन हो कर स्वयं बेसुध और बेखुद हो जाना। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिये कि तन,मन और अपनी आत्मा सहित अपने मालिक ईश्वर में लय हो जाना। मुझे स्मरण है कि हमारे 'श्री बाबूजी' ने एक बार मुझे लिखा था कि - "बिटिया! तुम्हारी इतनी अच्छी दशा होते हुए भी हमारी मंजिल को देखते हुए अभी दिल्ली बहुत दूर है।" किन्तु उसके आगे 'आपने' कितने सुंदर एवं प्रोत्साहन पूर्ण वाक्यों में लिखा था कि - "फिर भी हमें अपने 'लाला जी साहब' (समर्थ महात्मा श्री रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़) की जात पर हमेशा उम्मीद रखना चाहिये। वह जो चाहें, सो कर सकते हैं और हमारे मिशन में सब उन्हीं की कृपा है। और उन्हीं की शक्ति ही काम कर रही है।" वास्तव में आत्म-समर्पण का यही उद्देश्य है और यह उन्हीं का प्रोत्साहन है, जो मुझे सदैव ऊँचा उठने में मेरी उन्नति में नवजीवन डाल कर मेरे मार्ग में मुझे प्रकाश प्रदान करता रहता है। किसी ने कहा है कि - "जपात् शतगुनं ध्यानं ध्यानात् शतगुनं लयः। अर्थात् जप से सौगुना लाभ है, ध्यान का, ध्यान से सौ गुना लाभ है उसमें लय हो जाने का अथवा आत्म-समर्पण हो जाने का। यों तो आध्यात्मिक क्षेत्र आत्म-समर्पण का ही विस्तृत क्षेत्र है, तथापि इसका प्रारम्भ कब होता है हमारे अन्दर? जब बहुत कुछ नाता वाह्य-वस्तुओं से टूट कर अंतर से जुड़ जाता है अथवा यों कहिये कि जब हम अपने 'इष्ट' में लय होना प्रारम्भ करते हैं, प्रेम करते-करते हम तदरूपी ही होने लग जाते हैं। शायर 'वजहन' के शब्दों में यों कह लीजिये कि -

"जब तक तन नाहीं गलत, मन नाहीं मर जात।
'वजहन' सूरत श्याम की, सपनेहुँ नाहिं दिखात॥"

वास्तव में भाई, हम मर कर ही जीते हैं। प्रेम एवं सतत्-स्मरण द्वारा कर्म की डोर डिवाइन से सम्बद्ध हो जाती है। तब सब कुछ मेरे 'मालिक' की इच्छा से जैसा 'वह' चाहता है, होता है यह बात हमारे हृदय में घर कर जाती है। अथवा यों कहिये कि प्रेम की दैविक-तपिश मन को भी गलानें लगती है और गलते हुए वह भी प्रियतम प्रभु में समाता चला जाता है। मुझे भली प्रकार स्मरण है कि एक बार मैंने अपने 'श्री बाबूजी' को लिखा था कि - "अब तो अपने शरीर की अनुभूति प्राय: समाप्त हो गई है।" तो आपने उत्तर में लिखा - "बिटिया! यह बहुत अच्छी हालत है। इसको लय-अवस्था कहते हैं। फ़ारसी में इसे फ़ना होना कहते हैं और यही आत्म-समर्पण के क्षेत्र में पैरने लग जाने का प्रारम्भ है।" अर्थात प्रथम तो वाह्य-वृतियां अंतर्मुखी होकर श्री बाबूजी की दिव्य-दृष्टि में लीन हो रहती है, फिर क्रमश: अन्तर्वृत्तियां भी लय होने लगती हैं। मन का जन्म जन्मान्तरों का बोझ उतरता चला जाता है और वह हल्का होता चला जाता है। फिर अभ्यासी की क्या दशा हो जाती है? ऐसा लगता है, मानों अन्तर की सम्पूर्ण वृत्तियाँ शान्त एवं लीन (ध्यानावस्था में या समाधि अवस्था में) होती चली जाती हैं, किन्तु वृत्तियों के लीन रहते हुए भी वह जागता रहता है, क्योंकि 'स्वामी' को इसे और आगे ले जाना है। यद्यपि उसका चित्त सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों से परे निरन्तर अपने लक्ष्य में लीन रहता है। सब व्यवहार अपने 'प्रियतम् प्रभु' के सतत् स्मरण में लयलीन रहते हुए भी यथावत स्वत: ही होते हैं। किन्तु व्यवहार करते हुए भी उसे अन्य पुरुषों के समान किसी पदार्थ में लगाव नहीं होता है। श्री कृष्ण भगवान की वाणी में यों कह लीजिये कि -

"सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच:"

यही दशा हमें अनुभव होती है। वास्तव में यदि हम आध्यात्मिकता चाहते हैं तो समस्त कामनाओं को तथा मन की समस्त शक्तियों को ईश्वरीय सूत्र में गूँथ कर अपने इष्ट पर चढ़ाकर अप्रतिम गति से अग्रसर होते जायें।

मैं, फिर यही कहती हूँ कि यह सब बिना योग्य शिक्षक का सत्संग पाये असम्भव है। सम्भालने वाले की तो हमें (साधकों को) पग-पग पर आवश्यकता होती है और आगे चलकर तो हम वास्तव में उसकी इच्छा की ही कठपुतली हो

जाते हैं। सम्भालने वाले मेरे बाबूजी अपने बालक की मनो-स्थिति को पढ़कर उसे अपनी पावन-प्राण शक्ति (Transmission Power) द्वारा ईश्वर-प्राप्ति प्रदान करने में पूर्ण समर्थ है। मैने देखा है कि एक दिन आया कि जब मैं ईश्वरीय मिलन में इतनी बावली थी, दीवानी थी, हाय-हाय चिल्लाती, बन्द कमरे में इधर-उधर घूमती थी।'बाबूजी''बाबूजी' पुकारती थी, 'ईश्वर'-'ईश्वर' चिल्लाती थी, किन्तु इस मतवाली बेहोशी में मैंने निरन्तर अपने आपको 'श्री बाबूजी' के द्वारा चेतना में लाते हुए अनुभव किया है। उन्होंने मुझे हाथ से बेहाथ नहीं होने दिया। मैंने रात्रि को उसी दिवस पत्र में अपनी यह सब दशा लिख दी थी किन्तु उसी दिवस को लिखे गये उन प्रभु वर के पत्र का संक्षिप्त सा भाग मैं लिख रही हूँ। वे लिखते हैं कि - ''बिटिया! अवधूत गति में साधक का मेरे सामने रहना अच्छा है, किन्तु फिर भी कोई बात नहीं है। गुरू महाराज ने तुम्हारी देख-भाल का जिम्मा अपने ऊपर ले लिया है। जब तुम्हारी हालत काबू से बाहर होने लगे, तो कोच के सामने बैठ जाना। वैसे जहाँ तक ख़्याल है काबू से बाहर तो हालत नहीं जाने पायेगी।'' और वैसा ही हुआ। फिर भाई आप ही बताइये कि समक्ष देखते हुए दृष्टि-अन्धी कैसे बनी रहे और लेखनी मौन क्यों कर पड़ी रहे? यद्यपि मुझे नहीं पता कि आत्म-समर्पण किसे कहते हैं, कैसे होता है और क्यों हो जाता है? तथापि मैं देख रही हूँ कि मेरी लेखनी के नेत्र हैं। वह कुछ देख रही है और वह यह है कि मेरे शरीर का कण-कण नेत्र ही बन गया है। साधना की प्रथम सीढ़ी से लेकर अब तक मेरे अन्तस्तल से केवल एक ही ध्वनि गुंजरित होती रहती है कि -

''कागा सब तन खाइयो, चुनि-चुनि खइयो माँस,
दो नैना मत खाइयो, पिया मिलन की आस॥

*

हम

आखिर आपको हम से क्या शिक़वा है? जब कि हम ही (हमका) पर्दा हैं। तभी आप की खोज है, नहीं तो आपको कौन खोजता? आपके सामने हमारा अहं है तो पर्दा, पर्दा है, नहीं तो आप बेनकाब ही रहते। आपके सामने पर्दा न होता तो नग्न ही रह जाते। हमारा अहं आप का पर्दा है, आप से पर्दा नहीं है।

हम हैं, तभी तो आपका दीदार चाहिये, औह हम ही से आपका दीदार होता भी है। हम न होते तो आपके दीदार की क्या आवश्यकता होती?

हम हम (अहं) से हानि तभी उठाता हैं, जब वह स्वयं हमारे आगे भी पर्दा बन जाता है। चीज हम और आप के अतिरिक्त जब तीसरे ख़्याल पर पर्दा बनकर छाने लगती है तभी हम, हम से ही बहक जाते हैं। विचार (जो उससे शक्ति खींचते थे वे) निर्बल होकर अंधेरे में रास्ता न पाकर, और भी निर्बल होकर भटक जाते हैं। निर्बलता निराशा लाती है और आशा चाह बढ़ाती है। चाह की तृष्णा हमें चाट जाती है, इसलिये फिर हम नीचे गिरना प्रारम्भ कर देते हैं।

जब कभी कोई उसका ही प्रकाश लेकर हमें सीधे सहज से मार्ग पर अपनी सुदृढ़ शक्ति के सहारे ला खड़ा करता है, बस तब से ही हम पुन: ऊपर उठना प्रारम्भ कर देते हैं और एक दिन ....?

फिर आपके साथ अपने ठिकाने पर पहुँच जाते हैं। वास्तव में तो आप हैं तो आप के होने का प्रतिबिम्ब ही हम हैं। फिर ....।

हममें और आप में दूरी ही क्या?

अलहदगी ही कैसी? आखिर हम आपके हैं।

*

सहज-मार्ग योग के चमत्कार

समस्त संसार आज चमत्कारमय हो रहा है। प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक समय हर बात में चमत्कार देखना चाहता है। विज्ञान हमें नित्य नवीन चमत्कार दे रहा है। नित्य नवीन चमत्कारों का आविष्कार करता है। मानव-चक्षु उन्हें ही देख कर संतोष पा जाते हैं। हमारा मन उन्हें ही ग्रहण कर सकने का इतना आदी हो गया है कि उन्हें ही वह एक संत एवं योगी में टटोलना चाहता है। चमत्कारों के विषय में कठिनाई साधारण मनुष्य के साथ नहीं, योगी के साथ पड़ती है, क्योंकि योगी के चमत्कार साधारण चमत्कारों से भिन्न होते हैं।

चमत्कार दो प्रकार के होते हैं - एक तो वाह्य एवं दूसरा आन्तरिक। एक का मानव स्वयं कर्त्ता होता है, दूसरे अर्थात् आन्तरिक यौगिक चमत्कारों का कोई कर्त्ता नहीं होता है, वह स्वतः ही होता है। चमत्कार दो प्रकार की दृष्टि से देखे जा सकते हैं एक वाह्य दृष्टि से और दूसरे अन्तर दृष्टि द्वारा। अंतर में उतरते चमत्कार हमारी अंतर-दृष्टि देखती है। वाह्य दृष्टि हमें देती है वाह्य-संसार और वाह्य-संसार हमें देता है, तृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, नैराश्य, आलस्य एवं असामन्जस्य के उत्थान का चमत्कार। दूसरी ओर आन्तरिक दृष्टि हमें देती है हमारा अन्तरतम् श्रेष्ठ स्वरूप जहाँ पर कि परम शक्ति, परम सुख, परम शक्ति, परम विवेक और निरालस्य, निर्मलता का चमत्कार ही व्याप्त है। जगत के चमत्कारों द्वारा संसार भ्रमित हो सकता है, क्योंकि वाह्य-चमत्कारों के अंतर में केवल अहं व्याप्त होता है। कल जो बहुत सम्पन्न माने जाते थे, उन्हें ही आज अपने घर जाने के लिये दूसरों के चार कन्धों की आवश्यकता पड़ जाती है। ऐसा ही होता है, वाह्य-चमत्कार, जिसे हमारी वाह्य-दृष्टि नित्य देखती है।

इसके विपरीत आध्यात्मिकता का प्रारम्भ ही तब होता है, जब कि हम वाह्य चमत्कारों से बहुत ऊपर उठ जाते हैं। संत एवं योगी का चमत्कार है, संसार में रहते हुए संसार से परे ही विचरण करना। जादू से मनुष्य हमें कुछ समय को ऊपर उठा प्रतीत होता है, कुछ समय को प्राणहीन हो जाता है, जिन्हें हमारी वाह्य आंखें देख कर तृप्ति पाती हैं। किन्तु एक परम योगी का परम चमत्कार आंतरिक दृष्टि ही देख पाती है। योगी धरती पर रहते हुए भी धरती पर कभी नहीं उतरता है। संसार उसे जीवित मानता है, किन्तु वास्वत में जीवित सा दिखता हुआ भी वह जीवन-मुक्त दशा में रहता है।

संसार उसे देखता है, किन्तु वह कभी संसार को नहीं देखता है। उस पर भी अलौकिकता कैसी कि संसार उसे अपना सा ही माने बैठा रहता है। योगी बेचारा संसार को अपना मानना चाहकर भी अपनी दैविक योग दशा से नीचे नहीं आ पाता है। उसका अपनत्त्व तो उस अलौकिक दिव्यता से योग पाये रहता है, जो उसे अपने में ही रमाव दे देती है। यही है 'सहज-मार्ग' में राजयोगी का परम चमत्कांर।

वास्तव में तो हमें खोज चमत्कारों की नहीं है, वरन् हमें खोज है वास्तविक तथ्य की। हमारी चाह केवल यही है कि हम अपने वास्तविक सौन्दर्य से आवरण उतार कर वही हो जायें जो वास्तव में हमें होना चाहिये। हम चाहते हैं, हम श्रेष्ठ बनें, सुखी बनें, लेकिन हमें उसकी राह नहीं मिल पाती है। तभी संसार में हम कभी कुछ चाहते हैं और कभी कुछ चाहते हैं। हमारे चाहने में स्थिरता नहीं आ पाती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि यहाँ जो कुछ भी है और जिन्हें हम चाहते हैं, उन में स्थायित्व नहीं है। हम चाहते हैं दृढ़ता, स्थिति-प्रज्ञता, जो केवल उसी परम शक्ति ईश्वर के योग से अपने को सर्वथा बाँध लेने पर ही प्राप्त हो सकती है। योगी अथवा संत का परम चमत्कार यही है कि उसके समक्ष दूध का दूध और पानी का पानी ही हो कर आता है। हमें दिग्भ्रम अथवा पथ भ्रम कभी नहीं हो पाता है। हम कुछ नवीन निर्माण (सृजन) नहीं करते, पर हम निर्वाण का द्वार पा लेते हैं। हम सब कुछ चाहते हुए भी कुछ चाहते नहीं हैं। कुछ पाकर भी मानों कुछ नहीं पा पाते हैं। कैसी है यह आध्यात्मिक अथवा यौगिक स्थिति की विडम्बना? कैसी है यह अलौकिक भाषा, जिसे सद्गुरु श्री बाबूजी ही प्रदान करते हैं एवं वास्तविक रूप में जानते हैं। हमें क्या, हम क्या जानें, हम तो वही जानते हैं जो जानने योग्य है। वही चाहते हैं, जो चाहने योग्य है। फिर हमारा योग भी क्या, वह भी नाम मात्र को प्रतीत होता है।

हम योगी हैं, ऐसे कि योग होकर भी हमें उसका होश नहीं रहता है। हम ऐसे हो जाते हैं कि जैसे बिजली के Current नें हमें पकड़ लिया हो और अब यह दशा है कि उससे अलग हो सकते नहीं हैं और जब होश आता है तब मिलन की तड़पन ही तड़पन व्याप्त रहती है जो सहन-शक्ति के बाहर होती है। इसी से हमें सांसारिक कार्य करते हुए भी श्री बाबूजी दैविक योग के इस अनोखे चमत्कार का होश नहीं देते हैं कि Current से चिपके हुए भी हम न मर पाते हैं और न जी पाते हैं। वास्तव में योग है किसी से मिलने जाने की यात्रा का केवल एक सूत्र मात्र। इसका चमत्कार यह है कि यात्रा का प्रत्येक अंत एक नई यात्रा का प्रारम्भ पा लेता है। जब तक कि हम उस सूत्र के एक छोर से दूसरे छोर तक नहीं पहुँच जाते हैं, जो कि हमारी यात्रा का एकमात्र आधार एवं ईश्वर-प्राप्ति का लक्ष्य है। योग के घेरे का जहाँ से, जिस कारण से प्रारम्भ होता है, वहीं पहुँच कर अंत होता है। तभी ऐसा चमत्कार देखने

में आता है कि वह सूत्र, वह घेरा, वह यात्रा, सभी कुछ केवल एक बिन्दु में समा जाता है और हम खड़े देखते रहते हैं। केवल एक बिन्दु मात्र की शक्ति उन तमाम योग के चमत्कार रूपी दशाओं को अपने में समाहित कर लेती है, तभी हम संत गति में अथवा योग में सिद्धि पा जाते हैं। तभी संसार में हम कल्याण एवं सेवा के योग्य बन पाते हैं। योगी अथवा संत का सब से बड़ा चमत्कार तो होता है उसकी पावन प्राण-शक्ति यानी Transmission Power जो मानव-मात्र को सच्चे मानव में परिणत (Transformation) करके रख देती है। मानव को दैविकता में बदलकर रख देने में श्री बाबूजी की इच्छा शक्ति (Will Power) अजेय (Unfailing) होती है।

यह सत्य है कि प्रकृति की शक्ति द्वारा ही सब कुछ होता है। किन्तु प्रकृति हम पर शासन नहीं करती, बल्कि उस शक्ति से काम लेने वाले हम स्वयं ही होते हैं। अब चाहे जैसा उसके द्वारा अपने को बना कर रख लें। अपने को सँवारने में हम जब उस शक्ति का सहयोग लेते हैं, तब योग अथवा प्रकृति के चमत्कार हमारे में उतरते हैं किन्तु जब हम बिगाड़ने की ओर लग जाते हैं तो हम निम्नतर गिराव के निम्न स्तर से जुड़ जाते हैं। शक्ति का प्रयोग हमें ही करना है, चाहे अपने को संवारने में कर लें अथवा गिराने में लगा दें। इसीलिये हमारी यात्रा का एक छोर उमंग और आनन्द है और दूसरा छोर उदास और दु:खद है। गिराव उदास है और उठाव उमंग है। सूत्र केवल योग है। उसी प्रकृति की शक्ति का योगदान ले कर हम संसार में उतरते हैं और भौतिक चमत्कारों में चक्कर काटते हैं।

साधारण मानव चमत्कार देखता है एवं दिखाता है कि उसने अमुक नवीनतम् आविष्कार किया, अमुक खोज की, किन्तु संत अथवा योगी का अपना अनोखा ही क्षेत्र होता है। एक श्रेष्ठ स्थिति के स्थल पर वह कैसा आश्चर्य जनक चमत्कार देखता है, कि एक-एक अणु जिससे उसका निर्माण हुआ है, वह भी उसके नेत्रों के समक्ष ही बिखरा पड़ा है और वह केवल दृष्टामात्र है इस बात का। सद्‌गुरु साक्षी है उस परम सत्य के साक्षात्कार का। वास्तविक बात तो यह है कि समस्त संसार आज अंधकारमय हो रहा है। उसे प्रकाश में लाने के लिये सहज-मार्ग साधना पद्धति ही श्रेष्ठ, सुलभ तथा तुरत फलदायिनी शक्ति है। यही साधना पद्धति है जो वर्तमान को प्रकाशित करके दिव्य बनाने के लिये प्राणाहुति शक्ति द्वारा ईश्वरीय धारा का प्रवाह लिये हुए है। यह अनुभव है, जो जागरूक है - ''ईश्वर ऐसा ही चमत्कार करे कि समस्त को Divine बनाने में श्री बाबू जी के महा संकल्प को पूर्ण करे।

*

अपने घर की ओर

बहुत परेशानी है। असीमित चाहना में सीमित की भी प्राप्ति सुलभ नहीं हो पाती है। आकांक्षाओं के सागर में बहते एकमात्र बूँद की प्राप्ति के लिये भी तृषित ही फिरते रहते हैं, किन्तु? कहाँ है वह एक बूँद जो शुष्क हृदयों में आनन्द का सागर लहरा दे। जो प्यासे नयनों की तृष्णा को बुझा कर उनमें एक मधुर ह्रास मुखरित कर दे, जो जीवन में जीवन-ज्योति को जगा दे। जो समस्त में तैरते तिमिर को सहसा आवरण के समान उतार कर फेंद दे। कहाँ है वह? कौन है वह? जो अपने मधुर वात्सल्य द्वारा सोये मन में एक ऐसा सुन्दर सुखद स्वप्न सरसा दे, जो जागने पर स्वप्न का आवरण त्याग कर साकार हो उठे। और हम? प्रत्यक्ष देख सकें कि अब हम चैन से कहाँ बैठे हैं। आराम पूर्वक कहाँ पाँव पसारे उस मधुर स्वातंत्र्य का सुघर संगीत गुनगुना रहे हैं कि यह है हमारा ''अपना घर''।

किराया चुकाना है।

वह सभी को चुकाना ही पड़ता है। कोई घंटी बजा कर कान खाये जाता है।

और लाओ, और लाओ।

कितना किराया दें, कहाँ से चुकायें और कहाँ तक चुकायें? हम क्या जानते थे कि यह घर जहाँ हम हमेशा रहते आये हैं, यह हमारा ''अपना घर'' नहीं है। हमारे पुरखों का नहीं है।

जानना ही चाहिये था। इसके टूटने पर हम एक पेबन्द लगाकर भी तो इसे साबुत नहीं कर पाते हैं। पुराना होने पर, कमजोर पड़ने पर, हम इसका कुछ भी तो बदल कर नवीन नहीं कर सकते हैं। ढह जाने पर उसका पुनः निर्माण फिर हम निज की इच्छानुसार नहीं कर पाते हैं। जैसा, वह चाहता है हमें पुनः बना कर खड़ा कर देता है और हम विवश फिर इसे अपना मान कर सँवारने में लग जाते हैं। पुनः सजा सँवार कर उसे आराम से रहने योग्य बना पाते हैं कि फिर उसे छोड़कर अन्यत्र जाने की घंटी बज उठती है, किन्तु ....?

सब कुछ विचार करते हैं। नित्य नवीन आविष्कार करते हैं, नित्य नवीन प्रयोग करते हैं, नित्य नवीन निर्माण पर विचार में संलग्न होते हैं, किन्तु थाह

नहीं मिलती है। प्रयोग पर प्रयोगों की खोज होती जाती है, परिणाम यह होता है कि पीढ़ियाँ की पीढ़ियाँ नवीन प्रयोगों में, नवीन आविष्कारों में व्यस्त उलझी रह जाती हैं और हम उनमें ही और उलझते चले जाते हैं। घंटी फिर बज उठती है। सफलता हमें नित्य ही मिलती है, किन्तु किधर? निज के निर्मित प्रयोगों एवं उपायों में और हम बजाय घर पाने के घर से और भी दूर होते जाते हैं। घंटी बजती है। न सुन पाने पर, न जागरूक होने पर नित्य ही धक्के मिलते जाते हैं। किन्तु असीमित चाहना में उबलते हमें, उन कष्टों का बोध, क्षणिक ही हो पाता है और हम पुन: पुन: उलझ जाते हैं। फिर, वह एक दिन पुन: आ पहुँचता है, जब हम धक्के मार कर घर से बाहर निकाल दिये जाते हैं और फिर दूसरे घर में रहने के लिये विवश कर दिये जाते हैं और चले जाते हैं। यही क्रम चलता आया है और चलता रहेगा जब तक ....?

घंटी बजाने वाले की ओर हम अपनी चेतना को उन्मुख नहीं कर देते हैं। अपने समस्त चेतन और अवचेतन में उस घंटी की ध्वनि अर्थात् जागरण के संकेत को नहीं सुन पाते हैं। जब हम 'इसकी' ध्वनि (जागृति देने वाली पुकार) को सुन पाते हैं, तब हमारी बुद्धि में विकास का वह प्रकाश फैलने लगता है, जिसके द्वारा हम अपने अंतर की वह "और लाओ, और लाओ" वाली आनन्द ध्वनि एवं चाह, जो हमसे कुछ चाह रही है, को भली-भाँति पहिचान पाने में समर्थ हो जाते हैं। जब हम उस ध्वनि अथवा पुकार को सुनने लगते हैं, तो हमें वह अच्छी लगने लगती है। इसका परिणाम यह हो जाता है कि हमारे अवचेतन में उस "और लाओ" की पुकार, हमें पुन: डिवाईन चेतना की ठेस देकर सावधान करने वाले की ओर उन्मुख कर देती है। तब क्या होता है? हम "और लाओ" चिल्लाने के बजाय स्वत: ही पुकार उठते हैं कि "उसे लाओ, उसे लाओ।" इस प्रकार हमारा सम्बन्ध बजाय अधोमुख देखने के उर्ध्व में कुछ टटोलने लगता है।

तब .... ? हम देखने लगते हैं कि हम एक नवीन संसार में आ गये हैं। इस नवीन क्षेत्र सहज-मार्ग-साधना में दौड़ पाने के लिये हम अपने को स्वतंत्र पाने लगते हैं। अब यह नवीन संसार भी बार-बार हमें "अपने घर" के समान ही प्रतीत होने लगता है। यह नवीन क्षेत्र हमें जाना पहचाना सा लगने लगता है, ऐसा कि मानों हम अपने घर ही आ गये हैं। किन्तु ....? हमारा वह सम्बन्ध जो अनजाने ही हमारे अवचेतन में उस घंटी देने वाले की खोज में फैल गया है, वही हमारी विचार-श्रृंखला को पुन: पुन: झटक कर चेतन करता चलता है केवल 'अपने घर' की ओर का इंगित देकर। क्योंकि हम भूल से इस नवीन क्षेत्र में स्थान-स्थान पर

ठहर जाना चाहते हैं। प्रत्येक नव क्षेत्र को ''अपना घर'' मान कर बैठ जाना चाहते हैं, किन्तु फिर वही ''उसे लाओ'' की तड़प, जी को खाने लगती है। विवश हम और आगे बढ़ते जाते हैं। मन में कोई बार-बार खटकाता है कि बस यही तो है ''अपना घर'', किन्तु नहीं, यह अपने घर की सहज सीधी राह है। अब वह परेशानी कहाँ लुप्त हो गई? कहाँ चली गई हमारी वह बेचैनी वाली प्यास जो कैसे भी बुझाये बुझती नहीं थी। मृग-तृष्णा के जल से भला प्यास बुझती भी कैसे? वह तो पी कर ही शान्त होती है। घर की ओर पैर बढ़ गये। अब उलझन हो भी तो किस बात की। कौन हमें अब किराया भरना है। कहाँ रह गया वह तिमिराच्छन्न घर, जहाँ हाथ को हाथ नहीं सूझता था, फिर भी चलना ही पड़ता था। अब सतत् प्रकाश में चैन की स्वस्थ श्वांस आने लगी है, स्वच्छ वायु स्वास्थ्य एवं शक्ति देने लगी है। अब अपने घर की वस्तु हमें दूसरों को बांट सकने का भी अधिकार है, क्योंकि हममें शक्ति एवं सामर्थ्य भर उठी है।

वास्तव में अपने घर के सुख, शान्ति एवं स्वातंत्र्य की तो बात ही निराली है। अपने प्रिय श्री बाबूजी के मधुर वात्सल्य की तो बात ही अनूठी है। 'उसकी' ओर से आता निर्झर (ईश्वरीय धारा का प्रवाह) सदैव हमें बढ़े चलो, बढ़े चलो'' का स्वर दे कर बुला रहा है.......?

''अपने घर'' की ओर।

*

साधक के सृजन कण

आशा रूपी ढांचे में विश्वास की पुतलियों से घूरता है मानव अपने प्राणों को। दृष्टि को हृदय पर स्थित करता है ध्यान में।

वहाँ पर

श्वासों की बौछार से टपकते हुए सोमरस (प्राणाहुति) का पान कर वह खो जाता है अपने देश में।

तब

उसे अन्तर में मिलती है ध्येय से खींचती हुई वाह्य बेसुधी और वह रहने लगता है अपने अन्तर के देश में। अचानक ही विराम रूपी खटाई से जब उतरने लगती है बेहोशी, तो वह छटपटा उठता है एक अज्ञात वेदना से और फड़फड़ा उठते हैं उसके मन रूपी पक्षी के पंख। अंतर-पथ पार करने में जब उसकी भी सुधि भूलने लगती है तब उसे लगता है कि कहीं विराम तो नहीं हो गया।

और

तब एक सुकोमल करुण स्वर कर्ण कुहरों में प्रवेश करता है। ''हाय'' और अधीर होकर वह सहेज लेता है उसे अपने निश्वासों में। अज्ञात् वेदना में खोज पाता है उस ''हाय'' को जो घुन बन कर चूस जाती है सारी स्थूलता को।

फिर

एक क्षण भी उसे दूर नहीं होने देना चाहता अपनी आंखों से। वह डूब (लय) गया है, अपनी सूरत में क्रियाहीन सा बैठा है, खोया हुआ है।

किन्तु

वह नवनीत की पुतली पुनः पुनः झांक जाती है उसके अभ्यन्तर में और जगा देती है उसे उसकी समाधि से। 'नवनीत की पुतली' 'हाय' लिये आयी है और समाधि रूपी स्थूलता को भी कुरेदने लगती है। क्योंकि उसकी समाधि नींद है और जागरण है सुरति।

वह

अनुराग रूपी दूध पिलाकर बुझाना चाहता है उसे। पुनः पुनः आनन्द, शब्दों से

बहलाना चाहता है उसे। यहाँ तक होता है कि वह उससे बोलते हुए भी लीन हो जाता है और वह फिर भी उसके भीतर घुस-घुस कर उसे कुरेद देती है सहज समाधि से।

वह नहीं मानती

बिना उसके वह रह नहीं सकती। उसकी गोद में खेले बिना उसे चैन कहाँ? अब स्थूलता नष्ट हो गई, पासा ही पलट गया।

फिर

वह भी तो! भूल तो उसे सकता ही न था, क्योंकि वह उसकी श्वांसों की गति में समा चुकी थी कैसा अचम्भा था।

नेत्र खुले। वह भ्रमित सा मानों एक दिन लक्ष्य प्राप्ति के अभ्युदय की ओर टकटकी लगाये बैठा था, क्यों कि अब वह जीवित था केवल पर-अर्थ के लिये। ऊषा की अरुणाई मानों (मिलन का) प्रभात होने की सूचना देने लगी थी।

इतने में ही

वह नवीनता खोज लाई थी एक परदेशी समवयस्क को।

किन्तु अन्तर था

वह था प्रभात और समक्ष में था

अभ्युदय

परमार्थ का, जो आया था उसके अनुराग की खुमारी उतारने।

*

नोट : नवनीत की पुतली - मिलन की आतुरता

उसे या यह - अभ्यासी

वह - ईश्वर (सहज-मार्ग का लक्ष्य)

अपना देश या अंतर-पथ (हृद - देश)

अपनी सूरत (दैविक-सौंदर्य)

अभ्युदय (ईश्वरीय - देश)

*

सहज-मार्ग के रजकण

ओ... प्रिय :- अन्तर में तीर जरा ओछा पैठ गया है। निकाल पाने को हाथ नहीं उठ पा रहे हैं। बांहों में शिथिलता आ गई है। किन्तु मन में स्फूर्ति व्याप्त हो गई है। तीर किंचित तिरछा पैठा है। निरन्तर सागर की लहरियों के पखारते रहने से घाव तो धुल गया है, रक्त सूख गया है, पीर उभर आई है, कराह अस्पष्ट हो गई है, किन्तु .... कोई अन्तर में सहला रहा है, अंग-प्रत्यंग सिहर-सिहर उठते हैं। ओ ... बे पीर! सुन ये सरस पीड़ा कुछ गुनगुना रही है। ओ ... प्रिय! तीर किंचित ओछा पैठ गया है।

नींद नहीं आती है :- सारा का सारा दिन बैठे ही बीत जाता है। किसी आशा में। प्रातः सायं का सम्बल लिये आता है। सायं-काल रात्रि के सितारों जड़ा जड़ाऊ आंचल मुख पर डाल कर मौन हो जाती है और रात्रि पलकों में बीत जाती है, प्रतीक्षा भरी पलकें बोझिल ही रह जाती हैं। प्रत्येक आहट एक सैन (इशारा) बन जाती है। हरसैन में एक नवीन उछाह होता है। उछाह, तन्द्रा को वापस लौटाना चाहता है, किन्तु ... रात्रि पलकों में ही बीत जाती है। फिर भी शरीर में स्फूर्ति है, निराशा नहीं आती है, किसी सुदृढ़ विश्वास के सहारे। निद्रा नहीं आती है तो न आये। ओ... प्रिय! तीर सीधा नहीं, गहराई तक ओछा पैठा है।

जागरण भी स्वप्न हो गया है :- तन जागता है, मन जाग्रत है। मस्तिष्क स्वप्नानिल है, तभी तो जागरण भी स्वप्न हो गया है। आगमन की प्रतीक्षा है, प्रतीक्षा में आशा है, आशा में विश्वास है, विश्वास में दृढ़ता है, दृढ़ता में पवित्रता है और पवित्रता में मिलन की सिरसिराहट है। किन्तु .. सिरसिराहट में मिलन नहीं है। मिलन की मधुरता से सत्-चित् आनन्द भी एक हो उठते हैं। परन्तु .... एकता रूपी श्रृंखला मिलन के मध्य में रेखा सी लगी हुई है। ओ... बेपीर! सुन, यह पवित्रता भी निराकार और साकार के मध्य अन्तार बनाये हुए है। ओ... प्रिय! तीर किंचित ओछा गहराई तक चुभ चुका है।

इधर इस पार चुभन है टीसन है, कसक है, स्वच्छता है, क्योंकि संभालने वाला चतुर दूरदर्शी स्नेही परिचायक है। उस पार जहाँ तक दृष्टि जाती है, स्वच्छता बिखरी पड़ी है, सरलता की ओढ़नी ओढ़े। उधर कोई मेरी हर चुभन को सहेजता

जा रहा है। हर टीसन को दबाये हुए है। निरन्तर कसक को निरन्तर स्नेह थपकियों से दुलराये हुए है। मिलन और बिछोह के पालने में कोई अन्तर में मधुर लोरियां देता है, आ जाओ, तुम्हें बुलाता हूँ। तीर धीरे से खींच लिया और उस स्थान में होकर कोई स्वयं उर अन्तर में बैठ कर कण-कण में व्याप्त हो गया।

न जाने क्या हो गया :- तन छार-छार उड़ गया, मन गल गया, मस्तिष्क 'उसकी' सी ही सोचने लगा, जिह्वा उसका ही राग अलापने लगी। कर्ण कुहरों में 'उसका' ही सरस मधुर रव आने लगा। मन-रूपी वीणा गुनगुना उठी। आवागमन के द्वार बन्द हो गये। शरीर की आवश्यकता न रही। राह निर्जन, बियाबान थी, किन्तु ठगों का भय समाप्त हो गया। अन्तर स्वयं विश्वस्त सुदृढ़ प्रहरी बन बैठा। रात्रि, दिवस, स्वप्न, जाग्रति, सुख, दुख, पीर, सब का अवसान हो गया। किन्तु, अन्तर-वाह्य के एक रूप होने पर भी अन्तर के किसी एक कण में पपीहे की पुकार कैसी कुछ बस गई है, जिससे छार-छार होने पर भी अब तो हर कण-कण से रह रह कर यह पुकार उठती है 'पी कहाँ! पी कहाँ'! अचानक यह क्या हो गया? ओ प्रिय! तू किंचित अन्तर में ओछा पैठ गया है।

नोट : कुल सार है - सहज-मार्ग साधना में ईश्वर-प्राप्ति की ओर उन्मुख अभ्यासी की अंतर्दशाओं की पुकार।

तीर - प्रेम

साधना

विकलते! तुम्हारी मचलन, शरीर को क्यों चंचल बनाये हुए है? मानसिक अशान्ति क्यों बढ़ रही है? ओह ! आँखों के सामने यह रंग विरंगी तितलियाँ क्यों नाचने लगी? अब तो गति भी पंगु हुई जा रही है, किन्तु अभिलाषे! तुम्हारी थिरकन साज का साथ न पाने पर भी क्यों नहीं थिरकती? कदाचित् तुम्हें आभास नहीं कि तुम्हारे राग में संगति नहीं रही है, अब वह बेसुरा हो गया है।

कामने! तुम्हारी आलाप क्या वाद्यों की ध्वनि एवं उसके सामंजस्य की अपेक्षा नहीं रखती? तुम्हारा स्वर - झंकारना चाहता है, किन्तु ... कदाचित् यह नहीं जानता कि जिस वीणा का तुमने माध्यम ग्रहण किया था, उसके सातों स्वर अधिक कस दिये जाने के कारण टूट गये हैं।

गायक! ठीक तो सोचते हो। अपने अचेतन में पड़े हुए छाया-चित्रों को गीतों में उतार दो। अभी नाटक भी समाप्त नहीं हुआ है, फिर रंग मंच को खाली छोड़ कर नेपथ्य में गुनगुनाने से क्या लाभ? देखो, किन्तु इतना सोच लो। अब अंक परिवर्तित हो चुका है। गान यदि दृश्य के अनुकूल न हुआ तो गायन भी व्यर्थ होगा। अपने राग के रंग बदल दो, आलाप मध्यम गति में रहे। ओह। गायक! अब भी वही कामना कि वायु तुम्हारे स्वरों से टकरा कर उसमें कम्पन उत्पन्न कर दे। ऐसे तो स्वर न मिलेगा। झंकार बिखर जायेगी, और गायक! तुम्हारी साधना सफल न हो सकेगी। गीत को याद रक्खो, स्वरों की झनकार पर अपने को भूल जाओ। न सोचो। दर्शक अथवा श्रोतागण तालियाँ बजा रहे हैं कि नहीं। चिन्ता न करो कि तुम्हारे गान में सबको मंत्रमुग्ध करने की क्षमता है कि नहीं। तुम अपने स्वर का सन्धान करो। नवल रीति से, नवीन रागिनी द्वारा, नूतन वाद्यों की ध्वनि मिश्रित कर, एक नवीन दैविक संगीत से वातावरण को भर दो। ऐसा गाओ कि दीप्ति से तुम्हारा मुख मंडल देदीप्यमान हो जाये। तब तुम देखोगे गायक! तुम्हारा स्वर कहीं से भी न बिखर सकेगा, मंजुल रागिनी तुम्हारे कंठ से प्रस्फुटित हुआ करेगी। तभी तुम्हारी पुरानी वीणा के टूटे हुए तार स्वयं जुड़े हुए मिलेंगे। कामना निस्पन्द हो जायेगी एवं अभिलाषा गतिहीन। कामना की तो बात क्या, तुम स्वयं खोये हुए होगे, श्रोता समूह मूक एवं निशब्द! यही तो साधना की पूर्ति होगी जिसमें साधना, साधक और साध्य, सब एक ही हो जायेंगे अथवा एक का भी पता न होगा .... ''खोया

हुआ स्वर, कोई मुझे मुझ से मिला दे।''

फिर क्या? रागिनी? मधुरता ? एवं आनन्द? इससे - सुन्दर औरसहज कोई मार्ग हो ही नहीं सकता। आत्माभिव्यक्ति के इस मार्ग पर आकर जीवन में साधना के एक दो पल भी तुम्हें साध्य तक पहुँचाने के लिये बहुत होंगे। जीवन सार्थक हो जायेगा। यही स्वतंत्रता है और यही जीवन-मुक्ति! गायन और वादन में सामंजस्य रहे। एक भी स्वर कहीं से भी किंचित न बिखर सके। सभी एक ही लय में बँध कर स्वयं लय बन जायें। तब गायक कौन है? कहाँ है? वह गायक है या गान? कुछ भी पता न हो। यही तो होगी तुम्हारी सहज-समाधि।

*

मालिक की निगाह

यह कैसी निगाह है, यह किसकी निगाह है, कैसी प्रतीक्षा भरी आंखें हैं। यह किसकी ओर ऐसी स्नेहाविष्ट-दृष्टि से निहार रही हैं? इन्हें क्या चाहिये? किसी से क्या कुछ मांग रही हैं? इस निगाह में कैसी आतुरता है? इन निगाहों में नेत्र-द्वय के झरोखों से यह किसकी प्रतीक्षा सी टपक रही है? इनकी मूक ध्वनि किसको दूर से थपकियाँ सी दे रही हैं, अपने पास बुला रही हैं? किस बड़भागी को अपने सुकोमल अंक में समेट लेने को आकुल सी हैं? इन प्रश्नों का स्वागत हमें करना ही होगा। इनकी उपेक्षा भला की भी कैसे जा सकती है, क्योंकि यही तो मालिक की निगाह है। यह तो एक हृदय से दूसरे हृदय की बात कहने का माध्यम है। हृदय के पास आँख नहीं है, जिह्वा नहीं है, केवल अतल भावनाओं की गहराई, सागर की लोल-लहरियों से टकराते भँवर की तरह से ही है इसका चक्र (हृदय-चक्र)। हम इन स्नेह भरी निगाहों को अपने हृदय रूपी भँवर के चक्र में पैठा लें, यही एक इलाज है सब मर्जों का।

आओ! आ जाओ! हृदय की हूक चैन से नहीं बैठने दे रही है। इस हूक ने अंतर की गहराई को उथला करके श्री बाबूजी के समक्ष फैला दिया है।

इस पावन, पुनीत दृष्टि की किरणों को हम अपने अंतर में सीधी उतारलें अंतर में सीधी आने दें, हमें केवल ऐसी राह बनानी है। यदि हमारी दृष्टि के मध्य में 'उसकी' दृष्टि के अतिरिक्त कोई तीसरी वस्तु है, तो फिर हम उस पावन दृष्टि की किरणों को अपने अन्दर सीधी पैठने देने की राह में रोड़ा अटका देते हैं। सहज राह को स्वच्छ, शुद्ध एवं सरल बनाने का तो बस एक ही उपाय है। हम अपनी दृष्टि के पथ में 'इसके' ही महत् स्मरण को बिछा लें। हम अपनी स्मरण भरी प्रतीक्षा-युक्त दृष्टि द्वारा अपने हृदय में छुपी तड़प को निकाल कर बाहर ले आवें, बस तभी सच्चा रत्न मिल गया समझना चाहिये। यही वह वस्तु है जो अपनी आध्यात्मिक उन्नति की राह स्वयं टटोल लेती है और अपना मार्ग सहज एवं सुकोमल बना लेती है। किन्तु इस अमूल्य रत्न की खोज जब हम अंतर की अतल-गहराई में पहुँच कर करते हैं, तो हृदय रूपी सागर इसे उगल कर हमारे लिये हमारे समक्ष फेंक देता है। हम इसे सहेज लेते हैं, समेट लेते हैं, हृदय से लगा कर ही रख लेते हैं कि कभी

चक्कर में फँस जाने पर, उलझनों से ग्रसित हो जाने पर, यह हमसे छूटे तो हमारे हृदय रूपी सागर में ही समा जाये। हमारे हाथ से बाहर न हो जाये। किन्तु यह कहना भी कि इस अमूल्य राशि को हम सहेज लेते हैं, हम समेट लेते हैं, कहाँ तक सत्य हो सकता है। कदाचित् यह भली प्रकार वह बड़भागी ही समझ पायेगा कि जिसके जी में लगी हो अथवा जिसके जी को उनकी निगाह लग गई हो। जो हमें क्षण-क्षण सहेजती है। पल-पल पलकों में ही समेटती है। तड़प ही है वह अलौकिक रत्न, जो अभ्यासी के उद्धार हेतु उनकी आतुर दृष्टि को, उनकी प्रतीक्षा भरे नेत्र-द्वय को हमारे अंतर में, हमारे लिये उतार लाती है।

जब जीवन में हम किसी निश्चय को अपने विचार में दृढ़ कर लेते हैं, तो क्रमश: हमारी आंतरिक दृष्टि उस निश्चय के पीछे लग जाती है। निश्चय रूपी योग-श्रृंखला लक्ष्य से बराबर शक्ति लेती रहती है, ऐसा मैंने अनुभव किया है। इस प्रकार यह दैविक-शक्ति निश्चय की दृढ़ता को हमारे अंतर में और दृढ़ करती जाती है। उधर लक्ष्य की याद क्रमश: विचार द्वारा अप्रत्यक्ष मन में घर करती जाती है। अपरोक्ष मन की शक्ति, स्मरण में तीव्रता एवं आकर्षण भरती जाती है। इससे हमारे अंतर में बिजली की सी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जो केवल हमें ही नहीं समाहित करती है, वरन् हमारी तड़प 'मालिक' के अन्दर 'उन्हें' हमसे मिलने को बेचैन कर देती है। कैसा अव्यक्त रस है। कैसा अनूठा सत्य है। वास्तव में हम, साधक को तो आवाहन की प्रतीक्षा रहती है, हमारे नेत्रों में आवाहन के ही अश्रु रहते हैं, किन्तु उधर मिलन की आतुरता में 'प्रिय' आकुल व्याकुल सा हो जाता है। उनके नेत्रों में भी किसी के मिलन की प्रतीक्षा समा जाती है और तभी साधक की प्रतीक्षा सुहागिन हो जाती है।

हमारे ध्यान अथवा स्मरण में जब तक प्रेम व रुचि की तपिश नहीं उत्पन्न हो जाती है, तब तक हमारे निश्चय में दृढ़ता रूपी चिपक उत्पन्न नहीं हो पाती है। जब तक निश्चय में लक्ष्य प्राप्ति से चिपकन की पीड़ा नहीं उत्पन्न हो जाती है, तब तक हमारे विचारों को 'उसके' स्मरण के अतिरिक्त अन्य इच्छायें और विचार भी कहीं न कहीं छूते रहते हैं। इससे हमारा विचार एवं चाह एकांगी नहीं होने पाती है। जब तक हम अपने प्रिय के आवाहन की प्रतीक्षा में, स्मरण और विचार में एकांगी नहीं हो पाते हैं, तब तक नेह की श्रृंखला में 'उसके' साथ हमारा अहं भी जुड़ा रहता है। इससे मिलन की बेला में अबेर हो जाती है।

वह आता है, जब उसके ध्यान में लय लीन हुए हमें यह तक पता नहीं रहता

है कि आखिर हम किसको खोजते-खोजते स्वयं ही खो गये हैं। कौन चित्तचोर हमारे अनजाने में ही हमें चुरा ले गया है। किसने हमारे ख़्याल में से अनजाने ही हमारा अपहरण कर लिया है। कौन Divine प्रेम में भूले हमारे भोलेपन पर छा कर हमें ही ठग ले गया है। किन्तु ख्याल अथवा ध्यान को अभी ही सही ठिकाना मिल गया समझना चाहिये। कैसा सुन्दर सत्य है कि विचार भटक जाने पर ही हम भी भटक कर संसार में भ्रमते रहते हैं। किन्तु जब विचार अपने बाबू जी को साथ लेकर लक्ष्य की खोज में खो जाता है, तब वह हमें हमारे सही ठिकाने पर पहुँचा देता है। सही ठिकाना मिल जाने पर फिर प्रत्येक क्षण, बैठे-बैठे सोते, जागते प्रत्येक दशा में हम अपने ठिकाना बताने वाले के साथ ठिकाने (ईश्वरीय देश) में ही रहते हैं। फिर कभी भटक जाने का अन्देशा नहीं रहता है। ठोकर खाकर चोट खाने की सम्भावना नहीं रहती। तब देरी नहीं मालूम पड़ती है। हमारा प्रति पल प्रिय के आवाहन की प्रतीक्षा लिये हुए जाता है और उधर से प्रति पल मिलन का शुभ सन्देश लेकर आता है। इतना छोटा सा ही तो 'उसका' भेद है, जो हम पर खुल जाता है। सीधी चाल और स्वच्छ सहज-मार्ग पर जाते-जाते फिर हमारे अंतर में स्वच्छता व्याप्त हो जाती है। स्वच्छता सी सरल एवं पावन दैविक-ज्योत्सना में फैले हम यह भी विस्मृत कर बैठते हैं कि हम संसार में रहते हैं अथवा दिव्य-ईश्वरीय-लोक के वासी हैं। तब हम स्वत: पाते हैं कि हम केवल सांसारिक प्राणी ही नहीं, बल्कि, दिव्य शक्ति से पूर्ण, सामर्थ्य से भरपूर कुछ अन्य हैं, जिसे हम व्यक्त नहीं कर पाते हैं। जो कुछ हम व्यक्त नहीं कर पाते हैं, वही हैं 'मालिक' की निगाह। आयें, सहज-मार्ग साधना द्वारा हम सब मिलकर दिव्याकाश के तारे धरती पर बटोर लायें। आध्यात्मिक सागर के अनुभव रूपी हीरक कणों को Transmission Power द्वारा मानव-मन में उतार दें। परिस्थितियों के तीक्ष्ण वारों को हम सहज-संतोष रूपी ढाल पर सहन कर जायें। आपस में मिलकर, एक होकर, अनन्त शक्ति का प्रवाह 'बाबूजी' की निगाह के द्वारा हम अपनी ओर मोड़ लायें। वे मालिक हमारे हृदय में समा जायें और हम समा जायें 'मालिक' की निगाह में।

*

दिव्य - आह्वान

मिलन :- देख, वह देख, प्रियतम कितना सन्निकट आ पहुँचा है। अब तो केवल इतना ही शेष रह गया है कि दौड़ चल और उसे चिपटा ले। बस तब गुड़ और शीरे की तरह से तू एक हो जायेगा। फिर कोई तुझे न पहिचान पायेगा और न तू ही किसी को पहिचान पायेगा। जब मिलन की बेला आन पहुँचेगी, छाया जगत विलीन हो जायेगा और केवल वही रह जायेगा कि जिसे रहना चाहिये।

जब तू उसमें मिल जायेगा तब :- खांड खिलौना नहीं हो सकती और खिलौना खांड नहीं हो सकता। किन्तु, खांड से सब कुछ हो सकता है।

जाग उठ:- दूर-सुदूर से प्रभात-रागिनी बज उठी है, जिससे हृद्तंत्री का तार-तार अँगड़ाइयां ले रहा है।

किन्तु, तू? फिर भी मौन पड़ा किसकी बाट निहार रहा है। वह आयेगा अवश्य, परन्तु उसे अबेर हो जायेगी। तब तक तू नित्य कर्मों से निवृत्त हो जा। मेरी नहीं सुनता, तो न सुन .... प्रेयसी जब जगाने आयेगी (सुरत रूप चेतना) तेरे अंग-अंग में प्राण भर जायेगा। तेरी श्वांस-श्वांस में चेतना उमड़ आयेगी, जब सुरत की सवारी पर बैठकर वह आयेगा, तू जाग उठेगा।

*　　　　*　　　　*　　　　*

नैया दूर है, किन्तु किनारा निकट है :- ओ माझी, नाव किनारे पर ले आ। इस अथाह चौरासी लक्ष भँवरों से भरे समुद्र में तेरी नैया भला कितनी देर ठहर सकेगी। इसमें भी भाँति-भाँति के मच्छ, मगर-मच्छों का सामना तू किस प्रकार कर सकेगा? सागर का नमकीन जल कभी भी तेरी प्यास न बुझा सकेगा? ओ माझी, नाव किनारे पर ले आ।

किनारा दूर नहीं है। तू किंचित मात्र भी भयभीत न हो। नैया को इधर मोड़ ले, किनारा स्वयं ही निकट आ जायेगा। तुझे भय है कि कहीं कोई भयानक जल-चर तेरा पीछा न करे, फिर तेरा प्राण न बच पायेगा।

किन्तु किनारा दूर नहीं, यह देखने मात्र से ही दूर प्रतीत होता है। ओ माझी, नाव का मुख इधर मोड ले। तेरी नाव तो किनारे से बँधी है। सागर से इसका

सम्बन्ध ही कहाँ है? सागर की लोल-लहरियों पर तो तू केवल अठखेलियाँ मात्र ही करने गया था। लौट आ, माझी, लौट आ।

नैया दूर है, किन्तु किनारा दूर नहीं है।

नोट - मिलन - ईश्वर-प्राप्ति में दशायें, नाव का मुख - विचारों का रुझान

*

हमारी बारी आ गई है

भटकते-भटकते बहुत समय निकल गया, बहकते-बहकते बहुत बातें बहक गईं, सोते-सोते बहुत रात्रियां व्यतीत हो गईं, ऐसा बहुत समय से सुनाई पड़ता चला आ रहा है किन्तु भोर की स्वर्णिम किरण का साक्षात्कार हमें न मिल सका। सच तो यह है भोर तो एक और केवल एक बार ही हमारे जीवन में आता है, और राजयोगी के लिये केवल एक भोर ही जीवन को बदल देने वाला होता है। फिर वह कभी नहीं सो पाता, कारण यही है कि तमाम जन्म-जन्मान्तरों से हम अनगिनत सुखों की चाह से पीड़ित होते आये हैं। किसी ने हमारे मन को ठेस नहीं दी, जिससे हमारी वह पीड़ा जाग उठती, जो सब सुखों से परे, भौतिक-सुखों की चाह से ऊबी हुई, सोई सी, खोई सी, थकित सी, निढाल पड़ी हुई है। वास्तव में हमें वह देता भी कौन? सोये हुए युग में युग-प्रवर्त्तक के बिना भोर की वह पावन स्वर्णिम किरण हम तक पहुँचाता भी कौन? हमारे मध्य में तो न जाने कब से विराज रही थी हमारी बारी की आस जिसे भेदन कर कोई हमारे पास सुगम सहज-संदेश पहुँचा देता। हमें दैविक मिलन की चाह से तड़पा कर उठ बैठने को मजबूर कर देता। फिर भोर की वह पावन-प्राणाहुति रूपी किरण हमें भौतिक इच्छाओं के आसमान से उतारकर पावन धरती पर लाकर खड़ा कर देती। तब हम आँखें खोल कर देख पाते कि "हमारी बारी आ गई है।"

किन्तु, ऐसी बारी अकेली नहीं आती है। वह तो समस्त प्राणियों में जागरूक सहज-संदेश-वाहिका बनकर ही आती है। युग को एक दिव्य अलौकिक, अनोखे "श्री रामचन्द्र मिशन" का पावन परिचय देने के लिये ही आई है, जिससे समस्त मानव-जीवन धन्य बन सकें। मानवीय चेतना का विकास, उसके सदाचार का विकास, उसके आंतरिक निखार का विकास, उसके उद्योग और परिश्रम का विकास एक महान एवं श्रेष्ठ स्तर पर हो सके, धरा पर ऐसी ही दिव्य विभूति का आगमन होता है। वैसे हम सदैव से पृथ्वी पर ही चलते आये हैं, आकाश की छाया में अपने ही नीचे रहते आने की हमारी आदत ही पड़ गई है। हमारे भौतिक विकास का स्वाभाविक स्तर क्रमशः अब तक यही चलता रहा है और यही रहना भी चाहिये था। हम पृथ्वी पर रह कर आकाश के परे विचरण कर सकें, अपने श्रेष्ठतम विकास में लय होकर अपने से बहुत ऊँचे, समर्थ होकर रहें, यह हमारा अलौकिक

विकास है, जो प्रकृति से परे पलता है। किन्तु कब? जब हमारी बारी आ जाती है। कब? जब कोई दिव्य-विभूति ऐसा पावन, मधुर एवं आत्म-स्पर्शी संदेश लेकर हमारे बीच उतरती है। संसार में सभी अपने अलौकिक-विकास में लय होकर ही पृथ्वी पर विचरण करें, ऐसे मंगलमय उद्‌देश्य की पूर्ति देने के लिये वह दिव्य-विभूति अपनी पूर्ण एवं पावन प्राणाहुति के सहित हमारे मध्य श्री बाबूजी के रूप में प्रकाशमान हुई है। अब हमें समझना चाहिए कि हमारी बारी आ गई है। इस बारी के अंतर्गत कितना अथाह मैदान विस्तृत होता है, यह वाणी से परे है, परन्तु अनुभव से परे नहीं होता। हमारे स्वाभाविक भौतिक विकास से लेकर हमारे अलौकिक विकास के मध्य को दूरी केवल सहज-मार्ग के अभ्यास द्वारा अनुभव से ही पार की जाती है। सहज-मार्ग की सरल, निश्छल एवं दिव्य साधना एवं ईश्वरीय-ध्यान द्वारा हम इस दूरी का सहज ही अतिक्रमण कर जाते हैं। प्रियतम से मिलने की जागी हुई तड़प हमारी साधना में चार चाँद लगा देती है। श्री बाबूजी का वह आत्म-स्पर्शी सहज संदेश तब रह-रह कर आत्मिक आनन्द-सागर में हमें पुन: पुन: गोते देता रहता है, जिससे हमें शनै: शनै: यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि हमारी बारी आ गई है अंतिम-सत्य के द्वार का स्पर्श पाने के लिये।

यहाँ शब्द 'हमारी' ध्यान देने योग्य है। शब्द मेरी बारी केवल अपने से सम्बन्धित हो सकता है किन्तु किसी का आगमन तो हममें विश्व-प्रेम का संदेश एवं अंतर में दैविक गति प्रदान कर रहा है और हम यही कहने पर मजबूर हो जाते हैं कि हमारी बारी आ गई है। श्री बाबूजी का नेह निमंत्रण हमारी आत्मा की आवाज (Inner Voice) बनकर हमें पुकारता है पुन: पुन: कुरेदता है, चैन से बैठने भी नहीं देता क्योंकि हमें आत्मिक विकास की ओर जाना ही है। सर्व-आत्मा से सम्बन्धित, सर्व-आत्मा में समाया वहसंदेश हमें कुरेदता है कि हमें वहाँ पहुँचना ही है, शीघ्रातिशीघ्र सर्वोत्तम-गति में समा ही जाना है। उन की पावन-प्राण शक्ति द्वारा जाग्रत आत्मिक शक्ति ऊर्ध्वमुखी हुए मन की अनुभूति द्वारा हमें यह दशा लिखने को मजबूर कर देती है कि - ''हाँ चकई वा सिन्धु की, जहाँ न सूरज चन्द्र, रात-दिवस नहीं होत हैं, नाहीं दुख-आनन्द।'' क्यों कि जब हमारी बारी आ जाती है तो बड़ी धूम होती है दो द्वारों के मध्य से गुजरने की। इस द्वार से उस द्वार तक पहुँचने की आवभगत में कितनी अपार आनन्द मन: स्थितियों की अनुभूतियां हमें प्रत्यक्ष होती हैं। कितने ही अलौकिक आत्मिक गतियों के मैदानों का अतिक्रमण हम बिना सोचे-समझे अप्रतिम गति से निरंतर करते ही चले जाते हैं। कितनी आध्यात्मिक-गतियों के अलौकिक-आनन्द सागर का पान हम बिना विचारे ही,

बिना किसी रोक-टोक के करते ही चले जाते हैं। इसका कोई वार-पार नहीं है क्योंकि श्री बाबूजी ने अब हमारी बारी को ला दिया है। अपनी महत् शक्ति द्वारा समस्त दैविक गतियों को प्रत्यक्ष उतार सकने की दिव्य क्षमता रखने वाले श्री बाबूजी जी मानों अब हमारे साथ ही रहने लगते हैं। अब हमारी रहनी का स्थान धरती ही नहीं रह जाता है वरन् प्रकृति को भी सतत्-गति प्रदान करती रहने वाली उनकी दैविक क्षमता भी हमारे अन्तर में उतरने लगती है। इसका ही अवलम्बन लेकर हम अगणित मैदानों को लांघते चले जाते हैं। अब हमारा चैन चला जाता है और सतत रूप में मिलता भी जाता है। चलने की गति का भी बाँध टूट जाता है, क्योंकि अलौकिक गति की श्रृंखला का सहारा दिये, हमारा अंतर मंथन करते हुए तब मानों हमें अपने सन्निकट बुलाता रहता है। कैसी होती है वह टेर जो अत्यन्त सहज होते हुए भी अत्यन्त दृढ़, एवं सरस होते हुए भी ऐसी शक्ति-शालिनी होती है कि हमारे उर्ध्व-मुखी मन में भी कुछ अन्य मनन कर सकने की क्षमता नहीं रह जाती है। केवल लक्ष्य की ओर भागते चले जाने के लिये वह विभोर रहता है। यहाँ तक कि अपने चारों ओर प्लावित उस पावन-रस-श्रोत का कभी होश भी नहीं आता जो मार्ग में हमारे पैरने के लिये ही प्रवाहित था। किन्तु उसे देखने तक का अब हमें मानों अवकाश ही नहीं होता जो हमें अपने में समेट लेने के लिये ही सतत् प्रवाहित है। क्योंकि सुरत-रूपी श्रोत का मुख तो किसी ने अपनी पावन-प्राण-शक्ति द्वारा उस दिव्य एवं अलौकिक श्रोत से मिलाकर हमें चेतन कर दिया है कि ''हमारी बारी आ गई है।''

हमारे भौतिक विकास से आत्मिक-विकास के मध्य की दूरी तो केवल हमारे Making अथवा सदाचार में पैर पाने के समय तक ही सीमित है, किन्तु जिसकी हमें चाह है जिसके लिये हम बहुत समय से आकुल-व्याकुल हैं, वह तो कोई अलौकिक-विकास ही है, जिसका पता हमें सहज-मार्ग साधना के अंतर्गत दिखाई पड़ता है। प्राणीमात्र का कुछ ऐसा स्वभाव सा बन गया है कि वे रहनी से अधिक सम्बन्ध नहीं रखते। उन्होंने अपनी रहनी ऐसी बनाई ही नहीं कि वह उस तरह की हो जाती जैसी कि होनी चाहिये। रहने के विचार से ही रहने की चिन्ता होती है। फिर धीरे-धीरे यह भी पता लगने लगता है कि कौन सा स्थान रहने योग्य है। केवल प्रियतम परमात्मा की जात अथवा (परमात्त्व-तत्त्व) ही ऐसा है कि जो हमारी रहनी का सच्चा स्थान है। हम अपने सर्वस्व को लिये-हुये इसमें इस तरह से चिमटते जायें कि हमें उसका पता भी न रहे। किन्तु ऐसा हो कैसे? हम तो उन चीजों से चिमटे हुए हैं जिनके लिये हम सदैव से यही कहते आये हैं कि वे चीजें

हमें नहीं छोड़ती हैं। हमारा मन उसका कुछ ऐसा आदी बन जाता है कि जिस हालत में (अशान्ति) हमें नहीं रहना चाहिये, वही हालत प्रिय मालूम होती है। फिर प्रिय वस्तु को छोड़ने का जी कैसे चाहे? हमें करना तो केवल इतना है कि इस प्रेम को जो हमारे बंधन का कारण हो रहा है, हम 'उसका' प्रेम समझ लें। समालोचना के विचार से यह कहा जा सकता है कि प्रेम जब बंधन है तो इसे जिधर भी लगाया जायेगा बंधन का कारण ही बन जायेगा। यह सही हो सकता है, किन्तु जब प्रेम की वास्तविकता पर दृष्टि जाती है तो यही प्रतीत होता है कि यह चीज केवल मूल-तत्त्व की प्राप्ति के लिये ही है। शेष सब बातें या चीजें तो कर्त्तव्य के अंतर्गत ही आती हैं, जिन्हें हमें कर्त्तव्य की भांति ही करना और लेना चाहिये तो फिर उससे लगाव की गुंजाइश नहीं रह जाती है और न बंधन का ही संदेह रहता है। विभिन्न लगावों को हम प्रेम नहीं कह सकते हैं, प्रेम वास्तव में वही है, जो प्रियतम की सामीप्यता को घसीट लावे। समीप्यता ऐसी कि जो सारूप्यता की हालत को निखार कर अभ्यासी में उतार लावे। सारूप्यता भी इस हद तक कि जो अभ्यासी को सायुज्यता की दशा में रमाव दे दे।

परिपक्व-प्रेम में आत्म निवेदन की अवस्था स्वत: रहती है और पावन, साँचे प्रेम में आत्म-समर्पण की दशा समाहित रहती है। किन्तु प्रेम जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तब एक अज्ञात प्रेरक दैविक शक्ति उसे, सच ही अपने में समेट लेती है। अब बाजी जीत गई। हर कर्म, हर चीज अपनी समान गति पर पहुँच गई। ब्रह्म-विद्या पढ़ ली गई, ब्रह्म-गति प्राप्त हो गई। बंधन का यह कारण मुक्ति का दाता बन गया। किन्तु प्रेम की यह मंजिल सरस होते हुए भी दुरूह होती है। इसका पार पाने वाला कोई बिरला ही होता है। ऐसा सदैव कहा गया है किन्तु सहज-मार्ग साधना द्वारा आज यह सहज हो गया है।

प्रेम अथवा दैविक-आकर्षण हमारे अन्दर, ईश्वरीय प्रेम द्वारा सतत्-ध्यान रखने को मजबूर कर देता है। ध्यान द्वारा हम निरंतर अहं से शून्य Vaccumise होते जाते हैं, इसलिये उसका पूर्ण प्रकाश हमारे में व्याप्त होता चला जाता है। उधर Subconscious mind (अवचेतन-मन) में हमें किसी का सतत् इंतजार रहने लगता है। इंतजार स्वयं ही Vaccum(शून्य) होता है। वही आंतरिक ध्यान अथवा इंतजार हममें कुछ त्याग कर पाने की शक्ति एवं कुछ सहन कर पाने की योग्य क्षमता भी उत्पन्न कर देता है। 'उसके' और हमारे मध्य को मिला देने वाला दैविक आकर्षण ही योग, भक्ति, वैराग्य एवं त्याग का मूल है, जो श्री बाबूजी की प्राणाहुति शक्ति के प्रवाह द्वारा हमें प्राप्त होता है। आकर्षण जहाँ से प्रारम्भ होता है वहीं जा

कर अथवा वहीं पहुँचाकर समाप्त भी हो जाता है। 'मालिक' के आकर्षण की वह तपन जो हमारे अंतर में लगी और पगी रहती है, वह हमारे अंतर में पड़े जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों को मोम की भांति पिघलाकर हमें निखार कर तपस्वी के रूप में खड़ा कर देती है। यद्यपि यह अवश्य है कि हमारे आंतरिक-सत्संग की भाँति ही हमारा यह तप भी अन्दर ही अन्दर निखार कर हमें ज्यों का त्यों अपने वास्तविक स्वरूप में ले आता है। तभी हमारा अंतर पारस की भाँति बन पाता है। इस आकर्षण का एक छोर मैं से प्रारम्भ होकर विश्व प्रेम की अविरल गति में डूबकर खो जाता है। तब इसके परिणाम स्वरूप हमारे अन्तर-बाहर का कण-कण एक दिव्य नूर से भर उठता है। उस पावन नूर के प्रकाश में ही हमें अपने अलौकिक-विकास का स्तर दृष्टिगत होता है, जो ईश्वरीय-देश में ले जाकर वहाँ मुख्य-केन्द्र से योग दे देता है।

''जो लोहे को सोना कर दे, वह पारस है कच्चा।
जो लोहे को पारस कर दे, वह पारस है सच्चा।''

सच तो यह है कि जो किसी की इंतजारी में लुट गया है, जो केवल ईश्वरीय चाह में मिट गया है, उस अभ्यासी को क्या लौकिक में ढूंढना, क्या अलौकिक में ढूँढना? उसे फिर क्या फ़ना में ढूँढना क्या बक़ा में ढूँढ़ना? उसका पता वहाँ उस हृदय में ही कुछ मिल सकता है जिस हृदय के दाग (संस्कार) छूट जाते हैं और वहाँ ईश्वर विद्यमान मिलता है ऐसे हृदय का चैन ही वास्तविक शान्ति है। अपनी खुशी तो खुशी से न्यौछावर की जा सकती है, किन्तु 'मालिक' की वन्दना में झुके मन की तड़प बिना उसके कौन पूरी कर सकता है। यही वह पहेली है जिसे आध्यात्मिकता कहा जाता है। यही वह प्यासी पावन सूझ है जो हमें अवगत करा देती है कि अब हमारी बारी आ गई है।''

*

ध्यान

प्रत्येक साधना त्रिगुणों से समाहित है। पूजा, पाठ सभी सत् से समाहित हैं। किन्तु अंत में कर्त्ता होने के भाव से अहम् इसका Result हो जाता है। ध्यान त्रिगुणातीत है, तीनों गुणों से परे है इसीलिये ईश्वर के सन्निकट है। यही कारण है कि सहज-मार्ग के अभ्यास में श्री बाबूजी जी द्वारा बताये ध्यान में रहना ही वह धारा है, जो 'मालिक' से हमें योग दे सकने में पूर्ण समर्थ है। श्री बाबूजी द्वारा हृदय में पाई प्राणाहुति शक्ति का प्रवाह पाकर यह मेरा अनुभव है कि हम ध्यान में कुछ तन्मयता पाने लगते हैं, तभी से एक धारा का हृदय में हम सतत् प्रवाह पाने लगते हैं, जिसे कई प्रकार से हम व्यक्त करते हैं। मैंने एक बार श्री बाबूजी को लिखा कि ''मुझे लगता है कि फ़ैज का प्रवाह मुझ में हर समय जारी है'', यह प्रमाणित करता है कि ध्यान में तन्मय होने से हमारा योग 'लक्ष्य' से होना शुरू हो जाता है और 'उसकी' पावन-धारा हमारे अन्दर में प्रवाहित होने लग जाती है, यानी ध्यान तुरन्त फलदायी होता है। 'इस हाथ कर, उस हाथ ले' वाली कहावत पूर्ण रूपेण चरितार्थ हो जाती है। कहते हैं पूर्ण से पूर्ण (ईश्वर) की प्राप्ति होती है। इसलिये हृदय में ईश्वर की मौजूदगी का ध्यान ही लक्ष्य में एकत्त्व दिलाने वाली स्वयं पूर्ण साधना है। ध्यान इसलिये भी पूर्ण है कि जैसे पूजा-पाठ-जाप से हम कहते हैं, भक्ति मिलती है, ज्ञान मिलता है प्रेम बढ़ता है, लेकिन ध्यान में रमे रहना ऐसी पूर्ण साधना है कि जिसमें भक्ति, प्रेम, ज्ञान सभी कुछ समाहित है। मात्र ध्यान के अभ्यास को अपनाने से हमारे अन्तर में ये सभी बातें प्रवाहित हो जाती हैं। ईश्वरीय प्रेम हिलोरें मारने लगता है। हम उस अथाह प्रेम सागर में गोते लगाते हैं, आनन्द पाते हैं, लेकिन फिर दृष्टि लक्ष्य अर्थात् ईश्वर प्राप्ति पर टिकाने का ध्यान आने से पुनः हम सूखे के सूखे ही मालूम पड़ने लगते हैं। अंतर में सूखेपन का एहसास आते ही मिलन की तड़प दुगुनी बढ़ जाती है। इसलिये ध्यान ही ऐसी साधना है, जो अनन्त सांसारिक साधों को स्वयं में समाकर लक्ष्य को हमारे सामने प्रकट कर देती है। सहज-मार्ग द्वारा ध्यान, धीरे-धीरे 'लक्ष्य' को, अपने प्रियतम को पाने में ऐसा सूक्ष्म होता जाता है कि हृदय में ईश्वरीय सामीप्यता के एहसास से प्रारम्भ होकर क्रमशः स्थूल से स्वतः ही सूक्ष्मता प्राप्त कर लेता है। अर्थात् ध्यान में रत रहते-रहते ध्यान रखने की कोशिश रूपी स्थूलता माइनस होने लगती है और केवल इसकी

Reality ही सतत् रूपसे दृष्टिगत होने लगती है। फिर होता यह भी है कि यह Reality भी मालिक में लय हो जाती है और रह जाता है केवल 'लक्ष्य' अर्थात् ईश्वर प्राप्ति। एक अचरज यह होता है कि जब हम उनके समक्ष Open खड़े हो जाते हैं तो ईश्वर को स्वयं हमारे अंतर में Reveal होना पड़ता है। तब ईश्वरीय-देश में हमें प्रवेश मिल पाता है। ऐसी ही सत्य सहज-मार्ग साधना है।

ध्यान सत्य साधना इसलिये भी है कि इसमें किसी साधन का अवलम्बन हमें नहीं लेना पड़ता है। श्री बाबूजी की प्राणाहुति शक्ति के अवलम्बन से पूर्ण श्रेष्ठ लक्ष्य से योग पाये हुए यह दिव्य साधना है। श्री बाबूजी का कथन कि ईश्वर Matter से रहित है, इसलिये उसका ध्यान भी Matter से रहित ही है। दूसरे ध्यान में हमें भौतिक साधनों का सहारा नहीं लेना पड़ता है, इसलिये जिस दिन से हम Divine ध्यान में रहना शुरू करते हैं मानों Matter से ऊपर उठे रहते हैं। हमें चाहिये यह कि जिस दिन से हम ध्यान शुरू करें, तो ध्यान में ही रहें और ध्यान से उतरी 'उनकी' Grace में डूबे रहें, तभी हम शुरू दिन से ही ऊपर उठना प्रारम्भ कर देंगे। सहज-मार्ग साधना में ध्यान को कुछ ऐसी विशेषता श्री बाबूजी ने प्रदान की है कि जिस दिन से हम इसे शुरू करते हैं, यह स्वयं ही रहना चाहता है, क्योंकि ईश्वर-प्राप्ति से पूर्ण योग का यही तो केवल मात्र-सूत्र है। ध्यान, मन को एवं समस्त वृत्तियों को उर्ध्वमुखी ही रखना चाहता है, इसलिये छोटी बातें अन्तर में आती रहें, इन्हें पसन्द नहीं करता है। ध्यान द्वारा अन्तर में विशुद्धता व्याप्त होती है शायद इसीलिये Purity, impurity को बाहर फेंकना शुरू कर देती है। दो विभिन्न हालतें, दो विभिन्न विचार एक मन में नहीं पल सकते हैं। ध्यान सूक्ष्म है, क्योंकि क्रियाओं से मुक्त है, सो सूक्ष्म के आगे स्थूल विचारों का सोच ठहर भी नहीं सकता है। इसीलिये ध्यान द्वारा हमारे मन को जो उच्चासन मिलता है, भौतिक विचार इसे नीचे नहीं भटका सकते हैं। यहीं हमारी सूक्ष्म रहनी हो जाती है। विचारों का Field हृदय ही है। इसलिये जब Field में ईश्वर-प्राप्ति की लक्ष्य का बीज श्री बाबूजी ने बोया, तो ईश्वरीय विचारों एवं सतत्-स्मरण रूपी वैसी ही खाद, ईश्वरीय-धारा रूपी वैसा ही नीर भी देने का प्रयत्न हमारा होना चाहिये। तभी हमारी साधना, ध्यान में चार चाँद लग जाते हैं। हमारी प्रगति भी बाँध तोड़ना शुरू कर देती है। ध्यान की गरिमायही है कि वह लक्ष्य में ही डूबा रहे। ध्यान का सौन्दर्य तभी निखार पाता है, जब हमारे मन के मंदिर में प्रिय से मिलन लक्ष्य से मिलते-जुलते विचारों का समन्वय होता रहे। तभी Matter से रहित, भौतिक तत्त्व से परे, रात-दिन, अँधेरा-उजेला सब की सुधि खोये से, हमारी गति लक्ष्य की ओर मानों अप्रतिम होने

लगती है। इतनी शक्ति (Divine) हम अपने में प्रतीत करते हैं कि पहाड़ भी रास्ते में आये तो मानों मार्ग-बाधक नहीं बन सकता। सूर्य, चन्द्र, सभी हमारे समक्ष मानों निस्तेज पड़ जाते हैं, और हमारा अन्तर अलौकिक Divinity से जगमगा उठता है। ध्यान शुरू करते ही हम बाबूजी की प्राणाहुति का अंतर में प्रवाह पाकर Liberation की ओर कदम बढ़ाते जाते हैं, क्योंकि यहसमस्त बन्धनों से मुक्त, साध्य को पाने का प्रेममय तरीका है। मुक्त तरीके से मुक्ति की ओर ही कदम बढ़ेगा। ध्यान द्वारा हमारे हृदय में उतरती हुई हालतें बन्धनों से परे Divinity की ही होती हैं। और पूजा-पाठ करने से पूजन का लगाव ही हम में पनपता है, लेकिन ध्यान से ईश्वर प्राप्ति की सच्ची तड़प ही हृदय में पनपती है। श्री बाबूजी की इच्छा शक्ति अपनी पावन दिव्य प्राणाहुति शक्ति द्वारा हमारे ध्यान को वास्तविक रूप में निखार लाती है और ईश्वरीय सामीप्यता से संयोग देती है। ऐसा होता ही है क्योंकि तब हमारा 'लक्ष्य' सही अर्थात् ईश्वर प्राप्ति ही हो जाता है।

*

एलर्टनेस (सजगता)

समस्त विश्व में एक अनदेखी, एक अनजानी शक्ति का प्रवाह जारी है। प्राणीमात्र के अन्दर भी यह प्रवाह जारी है। ऐसा क्यों है? सृष्टि रचना में शक्ति प्रवाह के साथ ईश्वरीय तत्त्व भी कुल में व्याप्त हुआ है। संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो इससे खाली हो। मेरी समझ में इस तत्त्व को Realise कर लेने पर ही यह कहा गया है कि ईश्वर समस्त में व्याप्त है और ईश्वर अंश जीव अविनाशी है। उसमें बीज रूप में ईश्वर का समावेश है। बस वही चेतन शक्ति समस्त में मिली हुई है, लेकिन जब हम मुख्य लक्ष्य ईश्वर को पीठ दिये रहते हैं और पूरे होश के साथ दुनियाँ में खो जाते हैं, तो इस चेतन शक्ति से बहुत दूर हो जाते हैं। अब जब कभी कोई सत्गुरु या दिव्य-विभूति महाशक्ति लिये यहाँ ऐसी आती है, जिसमें वही महत् चेतन शक्ति पूर्णतया : से जाग्रत होती है उसे उस हालत पर कमाण्ड भी रहता है तो वह दूसरों को जगाने के लिये उसी शक्ति का सहारा लेता है, इसे यौगिक Transmission Power का ही नाम दिया जा सकता है। वह अभ्यासी के अन्दर जब उस शक्ति का प्रवाह देता है या अपने प्राणों द्वारा अभ्यासी के प्राण में उसी शक्ति की आहुति देता है, तो उस सद्गुरु की महत् चेतन शक्ति अभ्यासी में सोई, उसी चेतन शक्ति को थपथपा देती है, जिससे वह अनजाने ही यह Feel करता है कि वह सोते हुए भी जागता ही रहा है, बस यही 'एलर्टनेस' है, जो सद्गुरु की दैविक शक्ति के थपथपाने से हम में जाग उठती है और हमें हर समय लगता है कि चाहे कितना भी काम हो, चाहे कैसी समस्याएं हमारे सामने हों और हम उनमें उलझे हुए से मालूम होते हों, लेकिन वही 'एलर्टनेस' हम में ऐसी सजीव हो उठती है कि एक सजग प्रहरी की तरह हमारे अन्तर की इनसे ऐसी रक्षा करती है कि कुल अन्तर का सम्बन्ध हमारे वाह्य लेविल तक ही रहता है, भीतर नहीं आने पाता। अब जिसने जगाया है उससे कुछ ऐसा सम्बन्ध हो जाता है कि उस चेतना में उसी का स्वरूप उतर आता है, तभी ऐसा लगता है कि हम उनमें ही रहते हैं और हमारा शरीर एक मशीन की तरह सब काम करता है। उधर जब हमारी चेतना जाग उठी, तो एक ओर तो यह अनुभव करते हैं कि संसार हमारे लिये स्वप्न की तरह है, दूसरी ओर ऐसी हालत रहती है कि जब हम किसी से बात करते हैं किसी भी Function में शामिल होते हैं, तो हमें लगता है कि हम यहाँ शामिल हैं

किन्तु जैसे स्वप्न में हमें लगता है कि वह सब सत्य ही है, लेकिन स्वप्न से जागते ही, जैसे सब खेल समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार Function से हटने पर लगता है मानों कुछ था ही नहीं। लक्ष्य की याद आते ही मानों दैविक चेतना में हम फैल जाते हैं और हमें लगता है, हम 'मालिक' के अन्दर समाये हैं। क्रमश: ऐसा हो जाता है कि वाह्य और अन्तर के बीच में 'एलर्टनेस' खड़ी हो जाती है जो वाह्य का अन्दर से योग नहीं होने देती है और 'मालिक' का स्वरूप उसमें समाया होने के कारण हम यही Feel करते हैं कि सजगता में मालिक ही समाया हुआ है।

अब एक ओर तो 'एलर्टनेस' स्वत: एलर्ट रहती है कि वाह्य चीजों के साये से भी हमारा योग न हो सके और दूसरी ओर हमारी आन्तरिक चेतना रोम रोम में 'मालिक' समाया है इस एहसास से और भी भर जाती है, जिससे कि वह अपने उस महत् चेतन में योग पाने के लिये तड़प उठती है। श्री बाबूजी ने कितना ठीक लिखा है कि "तड़प अपना रास्ता खुद बना लेती है।" अब जब सद्गुरु शक्ति से या उसके सतत् स्मरण से अपने उद्गम का स्मरण आता है, तो फिर वह, तड़प किंचित ठहर नहीं सकती है। मैंने बाबूजी को लिखा था "मुझे ताब नहीं कि एक क्षण भी ठहर सकूँ, समय नहीं कि किसी ओर देख सकूँ। रात-दिन का आवरण आँखों से ओझल हो गया। दीन और दुनियाँ की खबर जाती रही। अब तो न बाहर के समाचार आते हैं न भीतरके जाते हैं। अब तो बस चलना है, कहाँ जाना है, कुछ पता नहीं। तड़प इतनी है कि प्यास बुझती नहीं। Direction अब कोई बताता नहीं, बल्कि खुद-ब-खुद गति उधर ही बढ़ती जाती है।" इसका अनुभव कई प्रकार से मैंने बाबूजी को लिखा। एक तो स्वप्न की तरह जागते ऐसी चेतना भरी प्यास कि लगता था कि स्वयं 'मालिक' भर-भर के पिलाता जा रहा है, लेकिन वह पानी उस तड़प को बुझाता तो क्या शीतलता भी नहीं दे पाता। इसके लिये जब मैंने श्री बाबूजी को लिखा था कि "समुद्र के समुद्र पी जाने पर भी यह प्यास बुझती नहीं, बढ़ती है।" दूसरे इस तरह से मैंने लिखा था कि "मानो मैं मछली की तरह कहीं से ऐसी अलग हूँ कि न मर पाती हूँ, न जी पाती हूँ।" अब जब मैं देखती हूँ तो मुझे अन्दाज आता है कि यह सब दशायें 'मालिक' की जगाई हुई 'एलर्टनेस' द्वारा मेरे में प्रवेश करती रही हैं और अपना अनुभव देकर विलीन हो जाती हैं। जब तक अभ्यासी में एलर्टनेस (सजगता) इस तरह की जाग नहीं पाती है तब तक Constant Rememberance का सूत्र with devotion लेना चाहिए। Constant Rememberance श्री बाबूजी से Transmission Power का ही प्रवाह लाती है, जो कि एक दिन हमें इस हालत पर लाकर खड़ा कर देती है, कि देने वाले का

दीदार तो होता ही है, बल्कि अपना-दाता वतन अर्थात् अंतिम-सत्य के लक्ष्य के साक्षात्कार की ओर ले चलता है। बस दीन और दुनियाँ के बीच में सोये हुए से हमको कोई दुनियाँ में आयी हुई दिव्य विभूति जब थपथपाती है तो श्री बाबूजी का वह कथन हमारे लिये प्रत्यक्ष हो जाता है कि I-ness हट जाती है, Self हमारे काम का रह जाता है, क्योंकि उसने इस Self को अपनी चेतन शक्ति (Transmission Power) से भर दिया है और हमारा वाह्य महत् Self यानी महत् चेतन में मिलने को बेकरार हो जाता है। तब हमें कुछ करना शेष नहीं रह जाता। दिव्य एलर्टनेस स्वयं सजग रहती है कि हमें लक्ष्य तक कैसे पहुँचाये। आगे चल कर हमें यह प्रमाण भी मिलता है कि हम संसार और आध्यात्मिक हालतों के लिये अपने को केवल साक्षी मात्र पाते हैं।

जब हमारे अन्दर ईश्वर-प्राप्ति की चेतना सजग हो जाती है, तो हमें कुल में वैसा ही दिखाई पड़ने लगता है। दूसरी ओर 'मालिक' जब उस शक्ति को Transmission Power द्वारा जगाते हैं तो मैंने देखा है कि वह स्वयं ही हमारी चेतना में समा जाते हैं ऐसे कि अपनी ओर देखने में भी वही दिखाई देते हैं और कुल में देखने पर भी केवल मात्र वही दिखाई देते हैं। 'एलर्टनेस' की इसी हालत पर कबीर के कथन की वह दशा हमारे सामने प्रत्यक्ष हो उठती है कि :-

"दर दीवार दर्पण भये, जित देखों तित तोय।
काँकर पाथर ठींकरी, भये आरसी मोय॥

अब हमारी ऐसी ही हालत रहने लगती है कि ईश्वरीय धारा जो समस्त में व्याप्त है अब हमारे द्वारा फैलती मालूम होती है। हम जिधर भी निकल जाते हैं Divine Light और पवित्रता कुल वातावरण में फैली मालूम होती है। इतना ही नहीं जो भी हमारे समीप उस वातावरण में आते हैं, उन्हें मैंने कहते सुना है कि कोई कहता है कि इनके आने से बहुत अच्छा लगता है, कोई कहता है कि बड़ी शान्ति मालूम होती है। कहने के तरीके फ़र्क हो जाते हैं, लेकिन चीज एक ही है। जब Transmission द्वारा धीरे-धीरे दैविक सजगता ऐसी परिपक्व हो जाती है कि दुनियाबी Vibrations उस तक पहुँचते ही नहीं, तब हम स्वयं देख पाते हैं कि एक सजग सा मार्ग हमारे सामने फैला है और हम ईश्वरीय धारा में खोए, बहते ही चले जाते हैं महत् चेतन में मिलने के लिये। तब कुछ ऐसी सूक्ष्म गति हमारी हो जाती है कि तीव्र गति होते हुए भी हमें इसका भी भान नहीं होता कि हम चल रहे हैं। जैसे हवाई जहाज में बैठे यात्री को ऐसा लगता है, जैसे वह एक कमरे में बैठा

हुआ है, उसे उसके चलने या उड़ने का ज़रा सा भी आभास तक नहीं होता। हाँ, जब कभी झटके लगते हैं, तब उसे थोड़ा पता लगता है। ऐसे ही जब हमारी गति सहज हो जाती है तो हालत बदलने पर ऐसा कह सकते हैं कि स्थूल से थोड़ी सूक्ष्म गति हो गई है फिर और सूक्ष्म में प्रवेश करने पर हमें यह पता चलता है कि हमारी हालत सहज हो गई है। अक्सर मैंने ऐसा भी पाया है कि हालत का पता देने के लिये हम चेतन रह सकें, इस के लिये 'मालिक' श्री बाबूजी अपनी शक्ति से हमें जगाते हैं, तब बढ़ते हुये हमारी सहज चेतना में हमें थोड़ा सा झटका प्रतीत होता है, नहीं तो सोये से, खोये से, होश गंवाये से, हम बहते ही चले जाते हैं सहज-धारा में। धीरे-धीरे ऐसा भी होता है कि यह धारा अपना पता देकर लुप्त होने लगती है या यों कह लें कि 'मालिक' को यह भी गवारा नहीं कि हम धारा में बहते जा रहे हैं, इस होश का भी बोझ हमारे एहसास पर रहे। मुझे अच्छी तरह से याद है कि एक हालत के लिये मेरे श्री बाबूजी महाराज ने लिखा था कि हमारी हालत अभ्यास से भी हल्की व सूक्ष्म हो जाती है, तो सतत् अभ्यास रहते हुए अभ्यास में बैठने पर हमें यह लगता ही नहीं कि हम कुछ अभ्यास कर रहे हैं। सच पूछिये तो राह मिल गई, अभ्यास छूट गया, 'मालिक' स्वयं राह बन कर हमारे सामने व्याप्त हो गये अब हम ऐसे बढ़ चले जैसे माँ के ऊपर चलते बालक को यह ज्ञान तक नहीं रहता कि वह माँ के ऊपर चल रहा है और सत्य यह है कि मैंने पाया कि मां को भी यह अन्दाज़ नहीं आता कि उसका बालक उसके ऊपर निर्द्वन्द्व चढ़ता जा रहा है। इसी हालत को पाकर मैंने बाबूजी को यह लिखा था कि ''राह में अब फूल ही फूल बिछे हैं। अब देरी ही कितनी रह गई, दूरी ही कितनी रह गई, बस आ पहुँचे और एलर्टनेस अथवा सजगता भी 'मालिक' के चरणों पर बिखर जाती है।''

*